

# पर से कुछ भी सम्बन्ध नहीं

( विश्व व्यवस्था की कारण-कार्यमीमांसा : प्रश्नोत्तर )

लेखक :

**पण्डित रतनचन्द भारिल्ल**

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., बी.एड.

प्राचार्य : श्री टोडरमल दि. जैन सि. महाविद्यालय, जयपुर

प्रकाशक :

**पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट**

ए-४, बापूनगर, जयपुर - ३०२०१५

प्रथम संस्करण : २ हजार ५००

( २५ जून, १९९७ )

द्वितीय संस्करण : ३ हजार

( २५ जनवरी, १९९८ )

तृतीय संस्करण : ३ हजार

( २७ मई, २००१, श्रुत पंचमी )

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

१. श्री आलोककुमारजी जैन, कानपुर	१०००.००
२. श्री जवेरचन्दजी दलीचन्दजी जैन, मुम्बई	१०००.००
३. श्री पन्नलालजी नावडिया, कुरावड़	१०००.००
४. श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	५०१.००
५. श्री शान्तिलालजी टाया, उदयपुर	५००.००
६. श्री अजितकुमार शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	२५०.००
७. श्री चन्द्रकान्त शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	२५०.००

कुल राशि : ४५०१.००

मूल्य : सात रुपये

टाइपसैटिंग :

**त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स**

ए-४, बापूनगर, जयपुर

मुद्रक :

**जयपुर प्रिन्टर्स**

एम.आई.रोड

जयपुर

## विषयक्रम

क्रम	विषय	पृष्ठ
१.	अपनी बात	४
२.	वस्तु स्वातन्त्र्य की घोषणा	५
३.	दुःख का मूल कारण	९
४.	विश्वव्यवस्था का स्वरूप	१०
५.	कार्य-कारण : स्वरूप एवं संबंध	११
३.	निमित्तोपादान कारण : स्वरूप एवं भेद प्रभेद	१५
४.	कार्य की निष्पन्नता में निमित्तों का स्थान	२४
५.	अंतरंग कारण से कर्म (कार्य ) की उत्पत्ति	३३
६.	द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतन्त्रता	३८
५.	कार्य कारण सम्बन्ध : एक विश्लेषण	४५
६.	निमित्त-नैमित्तिकता : एक सहज सम्बन्ध	५६
७.	निमित्तों को कारण कहने का औचित्य	६४
८.	द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक निमित्त-उपादान	६७
९.	प्रायोगिक प्रश्नोत्तर	७९
१०.	परिशिष्ट १	८५
११.	परिशिष्ट २	८६

## दृष्टि का विषय : सारांश

( यद्यपि अध्यात्म जगत से अपरिचित, अनजान पाठकों को उपर्युक्त शीर्षक नया लग सकता है, अटपटा भी लग सकता है; किन्तु अध्यात्म रसिकों को इसकी चर्चा नई नहीं है, अपरिचित भी नहीं है तथा मात्र बौद्धिक व्यायाम भी नहीं है। इस विषय का ऊहापोह इससे अपरिचित और सुपरिचित – सभी के लिए मात्र उपयोगी ही नहीं, आत्मार्थियों के लिए परम आवश्यक है, अत्यन्त जरूरी है।

अध्यात्म रसिक ब्र. यशपालजी की विशेष मांग पर कुछ दिन पूर्व डॉ. भारिल्ल ने इस विषय पर ९ प्रवचन किए थे। वे प्रवचन ब्र. यशपालजी को इतने अच्छे लगे कि उन्होंने इन प्रवचनों को कैसिटों से लिपिबद्ध कराकर एवं सम्पादित करके 'दृष्टि का विषय' नाम से प्रकाशित भी कर दिया, जो मूलतः पठनीय है।

उन्हीं का संक्षिप्त सारांश मैंने जो स्वान्तः सुखाय लिखा है, संक्षिप्त रुचिवालों के लिए यहाँ प्रकाशित किया है। मुझे विश्वास है कि इसे पढ़ने में लगाया समय तो सार्थक होगा ही, यह मानव जीवन भी सार्थक और सफल हो सकता है। )

'दृष्टि' शब्द के मूलतः दो अर्थ होते हैं। एक 'श्रद्धा' और दूसरा 'अपेक्षा' प्रथम 'श्रद्धा' के अर्थ में 'दृष्टि के विषय' की बात करें तो हमारी दृष्टि का विषय क्या हो ? अर्थात् हमारी सत् श्रद्धा का श्रद्धेय, हमारे परम शुद्ध निश्चयनय के विषयरूप ज्ञान का ज्ञेय और हमारे परम ध्यान(निश्चय धर्मध्यान) का ध्येय क्या हो ? हम अपनी श्रद्धा किस पर समर्पित करें, किसे अपने निश्चयनय के ज्ञान का ज्ञेय बनाये और किसे अपने निर्विकल्प ध्यान का ध्येय बनाये ? जिससे कि हमारा मोक्षमार्ग सध सके; रत्नत्रय की आराधना, साधना एवं प्राप्ति हो सके, हम प्राप्त पर्याय में पूर्णता की ओर अग्रसर हो सकें।

जो व्यक्ति ऐसा मानते हैं कि 'दृष्टि का विषय' मात्र सम्यग्दर्शन का विषय

है, वे भ्रम में हैं। यह मात्र सम्यग्दर्शन का विषय नहीं, अपितु यह सत् श्रद्धा परम शुद्ध निश्चयनय के ज्ञान का ज्ञेय और परम निर्विकल्प ध्यानरूप सम्यक् चारित्र का विषय है, निश्चय रत्नत्रय का विषय है।

'द्रव्यदृष्टि' और 'पर्याय दृष्टि' वाक्यों में जो 'दृष्टि' शब्द का प्रयोग है, वह 'श्रद्धा' का वाचक या सूचक नहीं; अपितु अपेक्षा का सूचक है। 'द्रव्यदृष्टि' अर्थात् द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से और 'पर्यायदृष्टि' अर्थात् पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से।

शास्त्रों में बहुत-सी अपेक्षाओं से पर्याय का वर्णन आता है, इसलिए पर्याय शब्द का सही अर्थ समझना आवश्यक है।

पर्यायार्थिकनय का विषय जो-जो वस्तु बनती है, उन सभी को पर्याय संज्ञा है, चाहे वह द्रव्य हो, गुण हो या पर्याय हो। जैसेकि – जो भारत का नागरिक हो, वह भारतीय है। भले, वह हिन्दू, मुस्लिम हो, सिख हो या ईसाई हो, उसी तरह जो-जो पर्यायार्थिकनय के विषय हों, वे सब पर्यायें हैं।

देखो, सम्पूर्ण जिनवाणी नयों की भाषा में निबद्ध है और नयों के कथन में मुख्य-गौण की व्यवस्था अनिवार्य होती है, क्योंकि वे अनन्त धर्मात्मक वस्तु का सापेक्ष कथन ही कर सकते हैं, प्रमाण की विषयभूत वस्तु के अनेक (अनन्त) धर्मों को एकसाथ नहीं कह सकते। अतः दृष्टि के विषय को समझने के लिए पहले हमें नयों की उन अपेक्षाओं को जानना होगा, जो हमें दृष्टि के विषय को अर्थात् सम्यक् श्रद्धा के श्रद्धेय को, निश्चयनय के विषयभूत ज्ञान को और परमध्यान के ध्येय को बताते हैं।

यहाँ ज्ञातव्य है कि – प्रत्येक वस्तु (छहों द्रव्य) अपने-अपने स्वचतुष्टयमय होती है। स्वचतुष्टय का अर्थ है वस्तु का स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल एवं स्वभाव। इन चारों सहित होने से ही द्रव्य को स्वचतुष्टयमय कहते हैं। वस्तु इन स्वचतुष्टयमय होने से ही सत् है।

इस चतुष्टय में प्रत्येक के दो-दो भेद हैं – वस्तु का स्वद्रव्य-सामान्य

-विशेषात्मक, स्वक्षेत्र-असंख्यातप्रदेशी-अभेद, स्वकाल-नित्या-  
नित्यात्मक और स्वभाव-एकानेकात्मकता ।

यहाँ यह भी ज्ञतव्य है कि - प्रमाण ज्ञान सर्वग्राही होता है और इसमें  
अपेक्षा नहीं लगती, क्योंकि प्रमाणज्ञान में मुख्य-गौण की व्यवस्था नहीं है ।

देखो, अपना आत्मा भी एक वस्तु है, द्रव्य है । इसके भी अपने स्वचतुष्टय  
हैं । सामान्य-विशेषात्मकता इसका द्रव्य है, असंख्यात प्रदेशी-अभेद इसका  
क्षेत्र है, नित्यानित्यात्मकता इसका काल है और एकानेकात्मकता इसका  
भाव है । ध्यान रहे, सम्पूर्ण चतुष्टयमय वस्तु का नाम भी द्रव्य है और उन चार  
में एक द्रव्यांश का नाम भी द्रव्य है ।

यहाँ ध्यान देने योग्य विशेष बात यह है कि असंख्यात प्रदेश क्षेत्र ऐसा  
नहीं कहा; क्योंकि असंख्यात प्रदेश कहने से तो असंख्यात का भेद खड़ा  
होता है और भेद खड़ा होने से आत्मा का अभेद स्वरूप खण्डित होता है,  
जबकि दृष्टि का विषय अखण्ड है, अभेद है, भेदरूप नहीं । असंख्य प्रदेशों के  
अभेद का नाम वस्तु का क्षेत्रांश या क्षेत्र है । इसी तरह अनन्त गुणों का अभेद  
आत्मा का स्वभाव है तथा अनादि काल से लेकर अनन्तकाल तक पर्यायों  
का अनुस्यूति से रचित प्रवाह आत्मा का स्वकाल है ।

इसप्रकार समान्यात्मक, एकात्मक, त्रिकाली और असंख्यात प्रदेशी  
वस्तु (आत्मा) ही दृष्टि का विषय है, श्रद्धा का श्रद्धेय है एवं ध्यान का ध्येय  
है ।

इसके विपरीत विशेष, अनित्यता, अनेक और भेद - यद्यपि ये भी  
वस्तु के ही धर्म हैं, किन्तु ये पर्यायार्थिकनय का विषय होने से दृष्टि के  
विषय में सम्मिलित नहीं हो सकते । जो-जो पर्यायार्थिकनय के विषय हैं,  
वे भले द्रव्यांश हों, गुणांश हो या पर्यायांश हों - सब पर्यायें ही हैं । अतः  
ये दृष्टि के विषय में सम्मिलित नहीं होते ।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने जीव की प्रमत्त-अप्रमत्त दशाओं और गुण

भेद से भिन्नता की बात कहकर भगवान आत्मा को पर्याय से भिन्न बताया  
है क्योंकि प्रमत्त व अप्रमत्त दशायें तो आत्मा को पर्यायें हैं ही, गुणभेद भी  
पर्यायार्थिकनय का विषय होने से पर्याय ही है और जो-जो पर्यायार्थिकनय  
का विषय बनेगे, उन सबकी पर्याय संज्ञा है, क्योंकि गुणार्थिक नाम का नय तो  
कोई है ही नहीं तथा गुणभेद में भेद की मुख्यता के कारण उसको द्रव्यार्थिकनय  
का विषय बनाया नहीं जा सकता । द्रव्यार्थिकनय का विषयम मात्र द्रव्य का  
मात्र अभेद, अखण्ड एक और सामान्य पक्ष ही बनता है ।

ध्यान रहे समयसार की सातवीं गाथा में भगवान आत्मा में विद्यमान  
गुणों का निषेध करना इष्ट नहीं है, क्योंकि अनन्तगुणों का अखण्डपिण्ड तो  
भगवान आत्मा है ही । निषेध तो गुणभेद का है, क्योंकि गुणभेद पर्यायार्थिकनय  
का विषय होने से पर्याय ही है ।

प्रश्न : यदि दृष्टि के विषयभूत आत्मा में पर्याय सम्मिलित नहीं है तो फिर  
आत्मा के द्वारा जानने का काम भी संभव नहीं होगा; क्योंकि जानना तो स्वयं  
पर्याय है । जानने रूप पर्याय के कारण ही तो आत्मा को ज्ञायक कहा जाता है  
न ! सातवीं गाथा में स्पष्ट कहा है कि - आत्मा में न ज्ञान है, न दर्शन है,  
न चारित्र है; वह तो मात्र ज्ञेय है । मूल गाथांश इसप्रकार है ।

“णवि णाणं न चरित्तं, ण दसणं जाणगो शुद्धो ।”<sup>१</sup>

उत्तर : ध्यान रहे, पर्याय को मात्र दृष्टि के विषय में से निकाला है,  
वस्तु में से नहीं, द्रव्य में से नहीं तथा गौण करने के अर्थ में ही पर्याय के  
अभाव की बात कही गई है और उक्त सातवीं गाथा में भी गुणभेद से  
भिन्नता की बात कहकर भी पर्याय से ही पार बताया है, गुणों से भिन्न नहीं  
बताया; क्योंकि गुणभेद का नाम भी तो पर्यायार्थिकनय का विषय होने से  
पर्याय ही है ।

१. समयसार गाथा ६ एवं ७

२. आ. कुन्दकुन्ददेव ने

देखो, प्रयोजन की दृष्टि से ही गुण एवं गुणभेद को पृथक्-पृथक् पक्ष में खड़ा किया है। इनमें गुणों को तो अभेदपने दृष्टि के विषय में सम्मिलित कर दिया और गुणभेद को दृष्टि के विषय में निकाल दिया है, पृथक् कर दिया है; क्योंकि निर्विकल्प की ग्राहक दृष्टि भेद को विकल्पात्मक होने से स्वीकार नहीं करती।

जो-जो पर्यायार्थिकनय के विषय हैं, वे भले द्रव्यांश हों, गुणांश हों या पर्यायांश हों; सब पर्यायें ही हैं, सबकी एक पर्याय संज्ञा है। ये सब भेद खड़ा करते हैं, अतः ये दृष्टि के विषय में सम्मिलित नहीं हो सकते।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि नयों की भाषा में कथन की गई एक अपेक्षा मुख्य एवं शेष अनुक्त अपेक्षायें गौण होती हैं।

परमशुद्ध निश्चयनय के विषय में वस्तु का एक, अभेद, सामान्य और अखण्ड पक्ष मुख्य रहता है और यही दृष्टि का विषय बनता है तथा वस्तु का विशेष, भेद, अनेक और खण्ड-खण्ड पक्ष पर्यायार्थिकनय का विषय है और यह दृष्टि के विषय में सम्मिलित नहीं होता अर्थात् गौण रहता है।

तात्पर्य यह है कि - दृष्टि के विषय में पर्यायार्थिकनय की विषयवस्तु, जिसके विशेष, भेद, अनित्य और खण्ड-खण्ड- ऐसे चार अंश होते हैं; इनकी पर्याय संज्ञा है और दृष्टि के विषय में समकित नहीं होते तथा जो सामान्य आदि चार अंश हैं, उनकी द्रव्यसंज्ञा है और वे दृष्टि के विषय में सम्मिलित हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र ने आचार्य कुन्दकुन्द की गाथा 'पञ्जयमूढा हि पर समया' की व्याख्या करते हुए कहा है कि - उक्त गाथा में असमानजातीय द्रव्य पर्यायों को मुख्य किया है। असमानजातीय द्रव्य पर्यायों में मनुष्य, देव, नारकी और तिर्यच आदि ग्रहण किया है। इन पर्यायों रूप में नहीं हूँ-

ऐसा कहकर द्रव्य-पर्यायों को मुख्य किया है। इन्हीं पर्यायों को पृथक् करने की बात की है। वहाँ उन्होंने जब अशुद्ध राग-द्वेषादि पर्यायों की प्रथकता की भी बात नहीं की तो केवलज्ञान जैसी अशुद्ध पर्याय की प्रथकता की चर्चा का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

इसीप्रकार प्रवचनसार गाथा ११४ में 'पञ्जयगऊण किच्चा' लिखा है जिसका अर्थ है - 'पर्याय को गौण करके' अर्थात् जो पर्याय को गौण करके अकेले द्रव्य के पक्ष को ग्रहण करता है, वह द्रव्यार्थिकनय है तथा जो द्रव्य को गौण करके पर्याय को ग्रहण करता है वह पर्यायार्थिकनय है।

यहाँ स्पष्ट रूप से गौण करने को लिखा है, अभाव करने को नहीं।

यदि कहीं व्यवहार का निषेध परक अर्थ निकलता है तो उसे लौकिक व्यवहार में न उलझने के अर्थ में ही ग्रहण करना, नयों के निषेध के अर्थ में ग्रहण नहीं करना। जैसेकि - शादी-विवाह, तिया-तेरहवाँ अथवा ऐसे ही अन्य-औपचारिकता की पूर्ति में अपने जीवन के अमूल्य क्षण बर्बाद नहीं करने के अर्थ में कहा गया है - ऐसा समझना। व्यापार-धंधों में उन उलझना - ऐसा निषेध परक अर्थ करना। नयों के भेद परक विषय का प्रतिपादन का निषेध नहीं मानना। नयों के प्रतिपादन में तो मुख्य-गौण की ही व्यवस्था है, निषेध की नहीं।

समयसार गाथा ७३ की टीका में जो सामान्य-विशेषात्मक आत्मा को दृष्टि का विषय कहा है, वहाँ सामान्य का अर्थ दर्शन एवं विशेष का अर्थ ज्ञान है जबकि अन्यत्र जहाँ विशेष का अर्थ भेद होता है, वह पर्यायार्थिकनय का विषय बनने से पर्याय में सम्मिलित होता है, इसकारण वह दृष्टि के विषय में सम्मिलित नहीं है।

प्रश्न : 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग लोक में एवं आगम में भी तो अनेक अर्थों में होता है। उनमें दृष्टि का विषय कौन-सा द्रव्य है ?

उत्तर : यह तो पहले कह ही आये हैं, कि प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टयमय

होती है। ये ही वस्तु के स्वचतुष्टय हैं इन चारों में द्रव्य भी एक पक्ष है, द्रव्यांश है जो कि सामान्य-विशेषात्मक होता है। इसप्रकार प्रथम तो वस्तु के इस सामान्य-विशेषात्मक द्रव्यांश को भी द्रव्य संज्ञा है। दूसरे मूल वस्तु को भी द्रव्य कहते हैं। मूल द्रव्य से तात्पर्य है जिसमें सामान्य-विशेषात्मक, एकानेक, नित्यानित्य और भेदाभेद ये आठों सम्मिलित हैं। ये आठों द्रव्य भाव या गुण की अपेक्षा काल की अपेक्षा एवं क्षेत्र की अपेक्षा हैं। ये दोनों ही द्रव्यदृष्टि के विषय नहीं बनते।

तीसरा सामान्य, अभेद, नित्य और एक - इन चारों के सम्मिलित रूप का नाम द्रव्य है। यह इसमें पर्याय शामिल नहीं है। तीसरे अर्थवाला द्रव्य ही दृष्टि का विषय है।

चौथे, लौकिक दृष्टि से रुपया-पैसों को भी द्रव्य कहा जाता है। लोक मजाक में कहते हैं सोनगढ़ वालों की तो द्रव्य पर ही दृष्टि रहती है। अर्थात् ये लोग पैसा वालों को ही सम्मान की दृष्टि से देखते हैं।

पाँचवें, पूजन की सामग्री को भी अष्टद्रव्य या द्रव्य कहते हैं।

छठवें, मन्दिर की वेदी पर उत्कीर्ण अथवा चाँदी के बने अष्ट मंगल द्रव्य भी होते हैं किन्तु ये सब द्रव्यदृष्टि के विषय वाले द्रव्य नहीं हैं। इन सब में तीन नम्बर वाला द्रव्य ही द्रव्यदृष्टि का विषय है। अतः इनसे भ्रमित नहीं होना चाहिए।

१. द्रव्यार्थिकनय के विषय हैं -

- (१) द्रव्य का अभेद-सामान्य
- (२) क्षेत्र का अभेद-प्रदेशों का अभेद
- (३) गुणों का अभेद-अखण्डता
- (४) काल का अभेद-नित्यता

२. पर्यायार्थिकनय के विषय -

- (१) विशेष (द्रव्यांश)

(२) प्रदेश भेद (खण्ड-खण्ड प्रदेश) क्षेत्रांश

(३) अनित्यता (कालभेद) कालांश

(४) अनेकता (गुणभेद) भावांश

जो-जो पर्यायार्थिकनय के विषय हैं उन सबकी पर्याय संज्ञा है और जो-जो द्रव्यार्थिकनय के विषय हैं, उन सबकी द्रव्यसंज्ञा है।

देखो, जिसप्रकार द्रव्य का भेद विशेष तो दृष्टि के विषय में नहीं है और द्रव्य का अभेद-सामान्य दृष्टि के विषय में सम्मिलित रहता है, क्षेत्र का भेद-प्रदेशों का भेद दृष्टि के विषय में नहीं रहता और क्षेत्र का अभेद प्रदेशों की अखण्डता रहती है तथा गुण का भेद दृष्टि के विषय में नहीं आती और गुणों का अभेद सम्मिलित रहती है उसीप्रकार काल (पर्याय) अनित्यता तो दृष्टि के विषय में नहीं रहती, किन्तु काल की नित्यता=काल का अभेद पर्यायों का अनुस्यूति से रचित प्रवाह काल की अखण्डता दृष्टि के विषय में सम्मिलित किया है।

काल का भेद, प्रदेश का भेद, गुण का भेद और द्रव्य का भेद - इन चारों का नाम पर्याय है। मात्र काल के भेद का नाम पर्याय नहीं है।

काल का अभेद=काल की नित्यता (निरन्तरता) पर्याय में शामिल नहीं है। मात्र - चारों के भेद ही पर्याय में शामिल हैं। अतः काल (पर्याय) की नित्यता अर्थात् पर्यायों का अनुस्यूति से रचित धारा प्रवाहपना द्रव्यदृष्टि के विषय में सम्मिलित है। इसे नहीं भूलना चाहिए।

प्रश्न : जब 'ज्ञानमात्र' आत्मा का लक्षण है तो आत्मा का दूसरा नाम 'ज्ञान' ही क्यों नहीं रखा ?

उत्तर : 'ज्ञान' नाम देने से आत्मा के अनन्त गुणों की उपेक्षा होती है मात्र ज्ञानगुण आत्मा के समग्र स्वरूप को बताने में समर्थ नहीं है। ज्ञानमात्र कहने से अनन्तगुणमय सम्पूर्ण आत्मा समझ में नहीं आता है।

“ज्ञानमात्र इस शब्द में, हैं अनन्त गुण व्याप्त।

ज्ञायक भी कहते उसे, प्रगट पुकारा आप्त ।।”

यदि ज्ञायक को मात्र जाननेवाला ही ग्रहण किया जाये तो वह एक ज्ञानगुणवाला हो जायेगा और ज्ञानगुण वाला कहने से भेद खड़ा हो जायेगा तथा भेद का नाम तो पर्याय है, वह त्रिकाली ध्रुव में शामिल नहीं है ।

हरवस्तु स्वचतुष्टय से युक्त होती है, यह एक नियम है । वस्तु उसी का नाम है जो स्वचतुष्टय से युक्त है ।

आ. समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में कहा भी है -

“सदैव सर्व को नेच्छेत, स्वरूपादि चतुष्टयात् ।

असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥”

- आप्तमीमांसा : आ. समन्तभद्र

ऐसा कौन है जो वस्तु को स्वचतुष्टय की अपेक्षा सत् रूप में स्वीकार नहीं करेगा ? और ऐसा कौन है, जो वस्तु को परचतुष्टय की अपेक्षा नास्ति रूप स्वीकार नहीं करेगा ? यदि कोई ऐसा है भी तो वह अपनी इस बात को सिद्ध नहीं कर पायेगा अर्थात् जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव - इन चार को स्वीकार नहीं करेगा तो उसके मतानुसार वस्तुव्यवस्था भी नहीं बनेगी ।

द्रव्य का अर्थ है वस्तु, क्षेत्र का अर्थ है प्रदेश, काल का अर्थ है पर्याय और भाव का अर्थ है गुण । जिसमें द्रव्य-गुण-पर्याय और प्रदेश सम्मिलित हैं, उसका नाम ही वस्तु है

मोक्षमार्गप्रकाशक में लिखा है कि “अनादिनिधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी मर्यादा सहित परिणमित होती हैं । यहाँ ‘अनादिनिधन’ कहकर काल की बात कही है ।

जब दृष्टि के विषय में पर्याय का निषेध किया जाता है तो हम काल नामक अंश का निषेध समझ लेते हैं, जबकि वस्तु के जो चार अंश द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव हैं, उसमें जो कालांश हैं, वह तो दृष्टि के विषय में शामिल

हैं । सबसे बड़ा खतरा यह है कि काल अंश को पर्याय समझकर उसका निषेध कर दिया जाता है । आ. समन्तभद्र ने यही कहा है कि -काल के बिना अखण्ड वस्तु स्वीकार नहीं नहीं की जा सकती ।

समयसार के सर्वविशुद्धज्ञानअधिकार में भी लिखा है कि न द्रव्येन खण्डयामि, न क्षेत्रेण खण्डयामि, न कालेन खण्डयामि, न भावेन खण्डयामि ।

न तो मैं द्रव्य से खण्डित हूँ, न क्षेत्र से खण्डित हूँ, न काल से खण्डित हूँ और न भाव से खण्डित हूँ, मैं तो एक अखण्ड तत्त्व हूँ ।

यदि वस्तु में से काल खण्ड निकाल दिया जाय तो वह वस्तु काल से खण्डित हो जायेगी और फिर वह वस्तु ही नहीं रहेगी ।

देखो, जिसप्रकार गुणों का अभेद द्रव्यार्थिकनय का विषय है और गुणभेद पर्यायार्थिकनय का, प्रदेशों का अभेद द्रव्यार्थिकनय का विषय और प्रदेश भेद पर्यायार्थिकनय, द्रव्य का अभेद (सामान्य) द्रव्यार्थिकनय का विषय है और द्रव्यभेद (विशेष) पर्यायार्थिकनय का विषय है, उसीप्रकार काल (पर्यायों) का अभेद अर्थात् पर्यायों का परस्पर अनुस्यूति से रचित प्रवाह क्रम अथवा पर्यायों की निरन्तरता (नित्यता) द्रव्यार्थिकनय का विषय होता है और कालभेद अर्थात् पर्यायों का कल खण्ड पर्यायार्थिकनय का विषय बनता है ।

द्रव्यार्थिकनय का विषय ही दृष्टि का विषय है क्योंकि द्रव्यार्थिकनय का विषय अभेद है और निर्विकल्पता का जनक है । पर्यायार्थिकनय का विषय भेद विकल्प का जनक होने से दृष्टि का विषय नहीं हो सकता ।

प्रवचनसार में जो ४७ नय बतायें हैं, उनमें विकल्पनय और अविकल्पनय है, वहाँ भी विकल्पनय का अर्थ भेद और अविकल्पनय का अर्थ अभेद ही है ।

ध्यान रहे, जैसी नित्यता और अनित्यता में नित्यता द्रव्य व अनित्यता पर्याय है, वैसे नित्यत्व व अनित्यत्व जो आत्मा के धर्म हैं, उनमें द्रव्य व पर्याय का भेद नहीं है, क्योंकि वे दोनों गुण हैं, धर्म हैं, अतः उनमें कोई भी

पर्याय नहीं है।

इसीतरह सर्वज्ञता पर्याय और सर्वज्ञत्व शक्ति गुण है, सर्वदर्शित्व (सर्वदर्शीपना) पर्याय है और सर्वदर्शित्व नाम की शक्ति गुण है इनमें जो-जो पर्याय हैं वे दृष्टि के विषय में सम्मिलित नहीं है और सर्वज्ञत्व, सर्वदर्शित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व आदि अभेद रूप से गुण (धर्म) दृष्टि के विषय में सम्मिलित हैं क्योंकि ये सब गुण के ही रूपान्तर हैं।

प्रवचनसार की गाथा ९३ की तात्पर्यवृत्ति टीका में लिखा है -

“अन्वयिनो गुणः अथवा सहभुवा गुणा इति गुणलक्षणं । व्यतिरेकणः पर्याया अथवा क्रमभुवा पर्याया इति पर्याय लक्षणम् ।”

ये क्रमशः गुण व पर्याय के लक्षण हैं हम पर्याय के नाम पर गुणों को भी दृष्टि के विषय में से न हटा दें, इसलिए गुण व पर्याय का स्वरूप भी, जानना जरूरी है।

शास्त्रों में गुणों को भी पर्याय नाम से कहा गया है। पर्यायों दो प्रकार की होती हैं - १. सहभावी २. क्रमभावी। सहभावी पर्याय गुण को कहते हैं और क्रमभावी पर्याय को कहते हैं। अतएव हम पर्याय के नाम पर सभी पर्यायों को भी दृष्टि के विषय में से नहीं निकाल नहीं सकते।

यदि हम पर्याय का लक्षण नहीं समझेंगे तो किस पर्याय को हम दृष्टि के विषय में सम्मिलित करें और किसे सम्मिलित नहीं करें - यह निर्णय नहीं कर सकेंगे। अतः हमें गुण व पर्यायों का सम्यक्स्वरूप समझना एवं उनका प्रयोग करने का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

जैनदर्शन में नय को मुख्य-गौण करना गाड़ी के ब्रेक (अवरोधक) और गतियंत्र (एक्सीलेटर) के समान है और मुख्य-गौण करने का अधिकार गाड़ी के ड्राइवर की भांति नयों के प्रयोग कर्ता-वक्ता को ही होता है। आगम भी इसी का समर्थन करता है -

“वक्तुराभिप्रायो नयः” अर्थात् वक्ता के अभिप्राय को नय कहते हैं। किस नय का कब/कहाँ कैसे करना - यह वक्ता के अभिप्राय पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ -

‘रात्रिभोजन नहीं करना चाहिए’ - यह कथन व्यवहारनय का है कि निश्चय नय का ? यदि इस व्यवहारनय के कथन को कभी भी मुख्य नहीं करेंगे तो इसका अर्थ यह हो जायेगा कि सभी को रात में खाने देना चाहिए। यदि हम ऐसा कहेंगे कि - “शाम को भोजनालय बन्द हो जायेगा” तो व्यवहार नय मुख्य हो जायेगा और व्यवहारनय मुख्य करना नहीं है।

अब यहाँ कोई कहे कि अध्यात्मियों को व्यवहारनय का प्रयोग नहीं करना चाहिए। यदि इस बात का निर्णायक हम पण्डित टोडरमलजी को माने तो उन्होंने कहा कि - ‘यदि इस सिद्धान्त का अध्ययन करना है तो गोम्मटसार का स्वाध्याय करना और यदि अध्यात्म जानना है तो आत्मख्याति का स्वाध्याय करना।’

पण्डित टोडरमलजी ने जिन अमृतचन्द्राचार्य को सर्वश्रेष्ठ माना है, उन्हीं अमृतचन्द्र ने ‘पुरुषार्थसिद्ध्युपाय’ ग्रन्थ में व्यवहारनय के कथनों का अत्यधिक प्रयोग किया है।

हाँ, इतना अवश्य है कि - आत्मानुभूति के काल में निश्चय को ही मुख्य रखना चाहिए, व्यवहार को नहीं।

पण्डित टोडरमलजी ने रहस्यपूर्ण चिट्ठी में ‘वृहद् द्रव्यसंग्रह’ की एक गाथा उद्धृत की है, जो इसप्रकार है -

“तच्चाणोसण काल समंय बुज्जेहि जुत्तिमग्गेण।

णो आएण्ण समये परचक्खो अणुहवो जम्हा ॥”

तत्त्व के अन्वेषण के काल में शुद्धात्मा को नय-प्रमाण (युक्ति) द्वारा पहले जाने, पश्चात् आराधना के समय, अनुभव के काल में नय-प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष अनुभव है।

इसप्रकार इस गाथा में व्यवहार के प्रयोग का निषेध तो अनुभव ने किया है। तत्त्व के अन्वेषण के काल में तो इसका (व्यवहार का) समर्थन किया है। अतः निश्चय को ही सदैव मुख्य रखना व्यवहार को नहीं – यह बात कहाँ रही ?

वास्तव में तो निश्चय से ज्यादा व्यवहार का काल है। जिनको सम्यग्दर्शन नहीं हुआ उनको तो हमेशा व्यवहार ही मुख्य है; क्योंकि उनका तो पूरा काल तत्त्वान्वेषण का ही है। सम्यग्दृष्टि को भी छह महीने में एकबार ही क्षणिक अनुभूति होती है, उसके अतिरिक्त समग्रकाल तो व्यवहार का ही कारण है। पंचम गुण वाले को १५ दिन में एकबार और वीतरागी मुनिराज को भी २४ घण्टे में केवल ८ घण्टे ही अनुभूति रहती है। १६ घण्टे तो उनका भी व्यवहार में समय जाता है। उनका भी तत्त्वान्वेषण का काल अनुभूति के काल से दुगना रहता है। यहाँ यह ध्यान रखने योग्य है कि उन ८ घण्टों में भी लगातार अनुभूति नहीं रहती; क्योंकि यदि अन्तुर्मुहूर्त भी लगातार अनुभूति रह जाय तो केवलज्ञान हो जाता है।



# पर से कुछ भी सम्बन्ध नहीं

## वस्तु स्वातंत्र्य की घोषणा

पर से सर्वथा भेदज्ञान कराते हुए अर्थात् पर से सम्बन्ध का निषेध करते हुए और कर्ता-कर्म का वास्तविक सम्बन्ध बताते हुए आचार्य अमृतचन्द्र सर्वविशुद्ध-ज्ञानाधिकार में वस्तु स्वातंत्र्य की घोषणा करते हैं। वे कहते हैं कि -

**ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः,  
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत्।  
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया;  
स्थितिः इह वस्तुनो भवतु कर्तुं तदेव ततः ॥**

**अन्वयार्थ :- ( ननु परिणाम एव किल विनिश्चयतः कर्म )** वास्तव में अपना परिणाम ( पर्याय ) ही निश्चय से कर्म है, ( **सः परिणामिन एव भवेत् अपरस्य न भवति** ) वह परिणाम अपने अश्रयभूत परिणामी ( द्रव्य ) का ही होता है, अन्य का नहीं ( **इह कर्म कर्तृ शून्यम् न भवति** ) और कर्म कर्ता के बिना नहीं होता ( **च वस्तुनः एकतया स्थितिः इह न** ) तथा वस्तु की स्थिति सदा एकरूप ( **कूटस्थ** ) नहीं होती; ( क्योंकि वस्तु द्रव्य-पर्याय स्वरूप होने से उसमें सर्वथा नित्यत्व संभव नहीं है ) ( **ततः तद् एव कर्तुं भवतु** ) इसलिए वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्म की कर्ता है।<sup>१</sup>

इसके पूर्व टीका में स्पष्ट लिखा है कि “**न तु अनेक द्रव्यत्वेन ततो अन्यत्वे सति तन्ममयो भवति, ततो निमित्त-नैमित्तिक भाव मात्रेणैव**

**तत्र कर्तृ-कर्म, भोक्तृ-भोग्यत्व व्यवहारः**” अर्थात् अनेक द्रव्यत्व के कारण उनसे ( कर्म-करण आदि से ) अन्य होने से उनमें तन्मय नहीं होता, इसलिए दो अन्य-अन्य द्रव्यों में निमित्त-नैमित्तिक भाव मात्र से ही कर्तृत्व-कर्मत्व और भोक्तृत्व-भोग्यत्व का व्यवहार है।”<sup>१</sup>

इसी विषय को स्पष्ट करते हुए गुरुदेवश्री कानजी स्वामी ने श्रावक धर्म प्रकाश के परिशिष्ट में और भी अधिक स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि - इसी बात को हम उक्त कलश में उल्लिखित निम्नांकित चार बोलों के द्वारा और भी अधिक सरलता से समझ सकते हैं -

**एक :- परिणाम ही कर्म है अर्थात् पर्याय ही कार्य है।**

‘ननु परिणाम एक किल कर्म विनिश्चयतः’ परिणामी ( वस्तु ) का जो परिणाम है, वही निश्चय से उसका कार्य है। पदार्थ की अवस्था ही वास्तव में उसका कर्म है। परिणामी अर्थात् अखण्ड वस्तु जिस भाव से परिणामन करे, उसे परिणाम, कार्य, पर्याय या कर्म कहते हैं।

**दो :- परिणाम परिणामी का ही होता है, अन्य का नहीं।**

‘ सः परिणामिन एव भवेत्’ वह परिणामी का होता है। जैसे ज्ञान शब्द सुनने का परिणाम आत्मा का ही है, आत्मा के ही आश्रय है, जड़ शब्द के आश्रित नहीं, कान के आश्रित भी नहीं, इच्छा के आश्रय भी नहीं, क्योंकि परिणाम परिणामी का ही है; इसलिए आत्मसम्मुख दृष्टि करो। उदाहरणार्थ -

**प्रयोग :** शब्द सुनने का ज्ञान किससे हुआ ? इस प्रश्न के उत्तर के लिए निम्नांकित चार विकल्प दिये हैं, उनमें एक सही व तीन गलत है। आपको सही उत्तर देना है। वे विकल्प हैं -

(क) शब्द से

(ख) कान से

(ग) सुनने की इच्छा से (घ) आत्मा से

**सही उत्तर :** आत्मा से; क्योंकि परिणाम परिणामी का ही होता है।

**तीन :- कर्ता के बिना कर्म नहीं होता अर्थात् परिणामी के बिना परिणाम नहीं होता। ‘ इक कर्म कर्तृ शून्यम् न भवति’**

देखो, यहाँ ऐसा तो कहा कि कर्ता के बिना कार्य नहीं होता; पर ऐसा नहीं कहा कि निमित्त के बिना कार्य नहीं होता। कहने का तात्पर्य यह है कि कार्य के काल में निमित्त भी होता तो अवश्य है, परन्तु निमित्त से कार्य नहीं होता; क्योंकि निमित्त निमित्त में रहता है, वह कार्यरूप नहीं होता। जबकि परिणामी (द्रव्य) स्वयं परिणाम (पर्याय) रूप से परिणामता है।

**चार :- वस्तु की स्थिति सदा एकरूप नहीं रहती।**

‘वस्तुनः एकतया स्थिति न’ अर्थात् वस्तु नित्य अवस्थित रहकर स्वयं ही प्रतिक्षण नवीन अवस्थारूप परिणमित होती रहती है। जिसने संयोगों के कारण तदनुसार पर्याय का पलटना माना, उसने वस्तु के परिणामन स्वभाव को नहीं जाना, दो द्रव्यों को एक माना।

उक्त चारों बोलों से समझाया गया है कि वस्तु ही अपने परिणामन रूप कार्य की स्वतंत्रता के स्वयं कर्ता है। अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य के परिणाम के कर्ता नहीं हैं। इसे हम निम्नलिखित उदाहरण से समझ सकते हैं -

**‘जीव को दान देने की इच्छा हुई, इसलिए हाथ जेब में गया और सौ रुपया निकालकर दे दिए।’** क्या यह कथन सही है ?

नहीं, क्योंकि उक्त वाक्य में इच्छा का आधार या आश्रय आत्मा है तथा हाथ और रुपयों का आधार पुद्गल परमाणु हैं। दोनों के आधार पृथक्-पृथक् दो द्रव्य हैं, अतः आत्मद्रव्य पुद्गल के परिणाम का कर्ता नहीं हो सकता; क्योंकि अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य के परिणाम का कर्ता नहीं

होता। जिनागम का यह महासिद्धान्त इसका प्रमाणभूत आधार है।

अरे भाई ! हाथ का हिलना हाथ के परमाणुओं के आधार से हुआ, रुपयों का आना रुपयों के परमाणुओं के आधार से हुआ और इच्छा आत्मा के चारित्रगुण के आधार से हुई है। सबका स्वतंत्र परिणाम हुआ। कोई किसी के कारण नहीं हुए। यह है जैनदर्शन के **वस्तु स्वातंत्र्य का उद्घोष**।

यह तो भिन्न-भिन्न द्रव्यों के परिणामों या पर्यायों की स्वतंत्रता की बात हुई; बात तो इससे आगे यह भी है कि - एक ही द्रव्य के अनेक गुणों के सहभावी परिणाम भी एक-दूसरे के आश्रित नहीं हैं। राग और ज्ञान भी एक-दूसरे के आश्रित नहीं हैं। सभी परिणाम एक आत्माश्रित ही हैं। उदाहरणार्थ -

**प्रयोग नं १ : किसी ने एक व्यक्ति को गाली दी और उस व्यक्ति को गाली देनेवाले पर द्वेष हुआ, उस द्वेष का कारण क्या है ?** इस प्रश्न के उत्तर के लिए निम्नांकित तीन विकल्प हैं, इनमें दो गलत हैं और एक सही है। आपको सही उत्तर देना है - वे विकल्प इसप्रकार हैं -

१. गाली देनेवाला व्यक्ति २. गाली शब्द ३. आत्मा का चारित्र गुण

**उत्तर :** आत्मा का चारित्र गुण; क्योंकि परिणामी के आश्रय से ही परिणाम होता है, आत्मा के आश्रय से नहीं।

**प्रयोग नं. २ :** गाली शब्द के सुनते समय और द्वेष के समय जो गाली का और द्वेष का ज्ञान हुआ, वह ज्ञान किसके आश्रय से हुआ ? इस प्रश्न के भी ३ विकल्प हैं, आपको सही उत्तर चुनना है।

१. गाली शब्द के आश्रय से २. द्वेष के आश्रय से ३. ज्ञानस्वभावी आत्मा के आश्रय से। □

**उत्तर :** ज्ञानस्वभावी आत्मा के आश्रय से; क्योंकि परिणामी के आश्रय से ही परिणाम होता है, अन्य के नहीं और द्वेष रूप परिणाम चारित्र गुणवन्त आत्मा का ( परिणामी का ) ही है। अतः उठाओ दृष्टि गाली या गाली देने वाले पर से तथा गाली का ज्ञान आत्मा के आश्रय से हुआ अतः आत्मा पर दृष्टि केन्द्रित करो। तभी आत्मानुभवरूप धर्म प्रगट होगा।

## दुःख का मूल कारण

**प्रश्न १ :** दुःख का मूल कारण क्या है ?

**उत्तर :** पर से सम्बन्ध जोड़ना ही दुःख का मूल कारण है।

लोक में जितने भी जीव और पुद्गलादि द्रव्य हैं, उन सभी का प्रति समय होनेवाला परिणामन पूर्ण स्वतंत्र है। वस्तुतः एक द्रव्य का दूसरे द्रव्यों में से किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है। दो द्रव्यों के बीच कर्त्ता-कर्म, निमित्त-नैमित्तिक आदि जिन संबंधों की आगम में चर्चा है, वे सब कथन विविध अपेक्षाओं से किये गये औपचारिक कथन हैं।

परन्तु वस्तुस्थिति से अनभिज्ञजन इन औपचारिक व्यावहारिक कथनों को ही यथार्थ मानकर परस्पर राग-द्वेष किया करते हैं एवं मोह-राग-द्वेष वश पर के साथ एकत्व-ममत्व और कर्त्तृत्व में उलझे रहते हैं। यही इनके दुःख का मूल कारण है।

वस्तुतः विश्व की कारण-कार्य व्यवस्था पूर्ण स्वाधीन, स्वावलम्बी और वैज्ञानिक है। आगम एवं अध्यात्म के परिप्रेक्ष्य में इसके गहन अध्ययन की आवश्यकता है।

विश्व की कार्य-कारण व्यवस्था के संबंध में दार्शनिक जगत में भी बहुद

बड़ी-बड़ी भ्रान्तियाँ हैं। स्वतंत्र स्वसंचालित वस्तुव्यवस्था से अनजान जगत विश्व-व्यवस्था का कर्तृत्व अपने माथे पर मढ़ लेता है। जगत के कार्यों का स्वयं कर्ता बन बैठता है, जबकि जगत का प्रत्येक कार्य स्वतन्त्र है, स्वाधीन है।

**होता स्वयं जगत परिणाम, मैं पर का करता क्या काम।**

**दूर हटो परकृत परिणाम, ज्ञायक भाव लहूँ अभिराम।।**

ऐसी स्वाधीन, स्वावलम्बी वस्तुव्यवस्था की सही श्रद्धा ही दुःख दूर करने का सही उपाय है।

## विश्वव्यवस्था का स्वरूप

जैनदर्शन के अनुसार छह द्रव्यों के समूह को विश्व कहते हैं। छह द्रव्यों में जीवद्रव्य अनन्त हैं। पुद्गलद्रव्य अनन्तानन्त हैं। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य एवं आकाशद्रव्य एक-एक हैं। कालद्रव्य असंख्यात हैं। इन सभी द्रव्यों के समूहरूप यह विश्व अनादि-अनन्त, नित्य परिणमनशील एवं स्वसंचालित है। इन द्रव्यों का परस्पर एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध होने पर भी ये सभी द्रव्य पूर्ण स्वतंत्र हैं, स्वावलम्बी हैं। कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के अधीन नहीं है। वस्तुतः इन द्रव्यों पर का परस्पर में कुछ भी संबंध नहीं है। **इस विश्व को ही लोक कहते हैं।** इसीकारण आकाश के जितने स्थान में ये छह द्रव्य स्थित हैं, उसे लोकाकाश कहते हैं। शेष अनन्त आकाश अलोकाकाश है।

विश्व का प्रत्येक द्रव्य या पदार्थ पूर्ण स्वतन्त्र एवं परिणमनशील है। हमारा तुम्हारा आत्मा भी एक स्वतन्त्र स्वावलम्बी द्रव्य है, वस्तु है, परिणमनशील पदार्थ है। स्वभाव से तो यह आत्मद्रव्य अनन्त गुणों का समूह एवं अनन्त शक्ति सम्पन्न है, असीम सुख का समुद्र और ज्ञान का अखण्डपिण्ड है; परन्तु अपने स्वभाव का भान न होने से एवं पराधीन दृष्टि होने से अभी विभावरूप परिणमन कर रहा है। इसकारण दुःखी है।

**द्रव्यों या पदार्थों के इस स्वतंत्र परिणमन को पर्याय या कार्य कहते हैं।** कर्म, अवस्था, हालत, दशा, परिणाम, परिणति भी कार्य के ही नामान्तर हैं; पर्यायवाची नाम हैं।

सुख-दुःख का स्वभाव-विभावरूप कोई भी कार्य हो, वह बिना कारणों से नहीं होता और एक कार्य के होने में अनेक कारण होते हैं। उनमें कुछ कारण तो समर्थ एवं नियामक होते हैं और कुछ आरोपित। आरोपित कारण मात्र कहने के कारण हैं, उनसे कार्य निष्पन्न नहीं होता। उनकी कार्य के निकट सन्निधि मात्र होती है। जैनदर्शन में इन कारणों की मीमांसा निमित्त व उपादान के रूप में होती है।

## कार्य-कारण : स्वरूप एवं सम्बन्ध

**प्रश्न २:** ये निमित्तोपादान अथवा कारण-कार्य क्या हैं, इनका ज्ञान क्यों आवश्यक है ?

**उत्तर :** ये निमित्त-उपादान कार्य की उत्पादक सामग्री के नाम हैं। अतः इन्हें जिनागम में कारण के रूप में वर्णित किया गया है। इन निमित्तोपादान कारणों का यथार्थ स्वरूप जाने बिना कर्ता-कर्म सम्बन्धी निम्नांकित अनेक भ्रान्तियों के कारण हमें वीतराग धर्म की प्राप्ति संभव नहीं है। जैसे -

**प्रथम तो, निमित्तोपादान को जाने बिना स्वावलम्बन का भाव जाग्रत नहीं होता।**

**दूसरे, पराधीनता की वृत्ति समाप्त नहीं होती।**

**तीसरे, मोक्षमार्ग का सम्यक् पुरुषार्थ स्फुरायमान नहीं होता।**

**चौथे, निमित्त-उपादान के सम्यक् परिज्ञान बिना जिनागम में प्रतिपादित वस्तुव्यवस्था को भी सम्यक् रूप में समझना सम्भव नहीं है।**

**पाँचवे, इनके सही ज्ञान बिना या तो निमित्तों को कर्ता मान लिया**

जाता है या निमित्तों की सत्ता से ही इन्कार किया जाने लगता है।

● छठवें, इनके यथार्थ ज्ञान बिना वस्तुस्वातंत्र्य का सिद्धान्त एवं कार्य-कारण की स्वतंत्रता समझना सम्भव नहीं है। अतः इनका ज्ञान परम आवश्यक है।

● प्रश्न ३ : मोक्षमार्ग में इनके ज्ञान की उपयोगिता क्या है ? इनके समझने के धर्म संबंधी लाभ क्या है ?

उत्तर : निमित्तोपादान की यथार्थ समझ से तथा पर पदार्थों के कर्तृत्व के अहंकार से उत्पन्न होनेवाला कषायचक्र सीमित हो जाता है, समता का भाव जाग्रत होता है।

उदाहरणार्थ -

मैं परजीवों का भला कर सकता हूँ - इस मान्यता से या ऐसी श्रद्धा से अहंकार उत्पन्न होता है।

मैं पर को हानि पहुँचा सकता हूँ - ऐसी श्रद्धा से क्रोध भभकता है।

पर मेरा भला कर सकता है - ऐसी मान्यता से दीनता/हीनता आती है।

पर मेरा बुरा कर सकता है - ऐसी मान्यता से व्यक्ति भयाक्रान्त हो जाता है।

इसके विपरीत से इनकी यथार्थ समझ से निमित्तरूप पराश्रय के भावों से उत्पन्न दीनता/हीनता का अभाव होता है, क्रोधादि विभाव भावों की उत्पत्ति नहीं होती, स्वतन्त्रता/स्वाधीनता का भाव जाग्रत होता है तथा पर पदार्थों के सहयोग की आकांक्षा से होनेवाली व्यग्रता का अभाव होकर सहज-स्वाभाविक शान्तदशा प्रगट होती है।

प्रश्न ४ : परोन्मुखता समाप्त करने के लिए एवं स्वोन्मुखता प्राप्त करने

के लिए कैसी श्रद्धा होना परमावश्यक है ?

उत्तर : आत्मा के सुख-दुःख में, हानि-लाभ या उत्थान-पतन में निमित्तरूप परद्रव्य का किंचित् भी कर्तृत्व नहीं है तथा मेरा हिताहित दूसरे के हाथ में रंचमात्र भी नहीं है।

ऐसी श्रद्धा के बिना स्वोन्मुखता संभव नहीं है तथा स्वोन्मुख हुए बिना आत्मानुभूति होना संभव नहीं है, जो कि सम्यग्दर्शन की अनिवार्य आवश्यकता है; क्योंकि आत्मानुभूति के बिना तो मोक्षमार्ग का शुभारंभ ही नहीं होता।

निमित्तोपादान के समझने से परपदार्थ के परिणामन में फेर-फार करने की जो अपनी अनादिकालीन विपरीत मान्यता है, उसका नाश तो होता ही है; अपनी पर्याय पलटने की, उसे आगे-पीछे करने की आकुलता भी समाप्त हो जाती है।

निमित्तोपादान का स्वरूप समझने से दृष्टि निमित्तों पर से हटकर त्रिकाली उपादानरूप निज स्वभाव की ओर ढलती है, जो अपने देह-देवालय में विराजमान स्वयं कारण परमात्मा है। ऐसे कारण परमात्मा की ओर ढलती हुई दृष्टि ही आत्मानुभूति की पूर्वप्रक्रिया है।

इस प्रक्रिया से पार होती हुई अपनी ज्ञानपर्याय जब पर और पर्याय से पृथक् त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा को ज्ञेय बनाती है, तभी आत्मानुभूति प्रगट हो जाती है। इसे ही सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन ही मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी है; सुख-शान्ति प्राप्त करने का अमोघ-उपाय है।

इसप्रकार आध्यात्मिक सुख-शान्ति का मूल उपाय निमित्तोपादान सम्बन्धी सच्ची समझ ही है। न केवल आत्मिक; बल्कि लौकिक, सुख-शान्ति का उपाय भी यही है।

प्रश्न ५ : आत्मा में सम्यग्दर्शन (कार्य) निष्पन्न होने की प्रक्रिया क्या है ?

१. ( समयसार गाथा १३०-१३१ की टीका )

२. ( समयसार गाथा ६८ की टीका )

उत्तर : कार्य कारण के अनुसार ही निष्पन्न होता है। कहा भी है -  
 'कारणानुविधायित्वादेवकार्याणि'<sup>१</sup> तथा 'कारणानुविधायीनि  
 कार्याणि'<sup>२</sup>

जैसे - जौ से जौ ही उत्पन्न होते हैं। स्वर्ण से स्वर्णाभूषण ही बनते हैं, वैसे ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जीव से ही उत्पन्न होते हैं, देव-शास्त्र-गुरु से नहीं। देव-शास्त्र-गुरु तो निमित्त मात्र हैं, वे सम्यग्दर्शनरूप कार्य के कारण नहीं हैं।

**प्रश्न ६:** कारण किसे कहते हैं ?

उत्तर : कार्य की उत्पाद सामग्री को कारण कहते हैं। कार्य के पूर्व जिसका सद्भाव नियत हो और जो किसी विशिष्ट कार्य के अतिरिक्त अन्य कार्य को उत्पन्न न करे। वस्तुतः यही कार्य की उत्पादक सामग्री है, जिसे कारण कहते हैं।

कारण के मूलतः दो भेद हैं <sup>कारण</sup> उपादान कारण २. निमित्त कारण।

इन दोनों कारणों के अनेक भेद-प्रभेद हैं। उन सबका विस्तृत विवेचन आगे क्रमशः किया जा रहा है।

**प्रश्न ७:** निमित्तों में कर्तृत्व के भ्रम का कारण क्या है और उसका

निवारण कैसे हो ?

उत्तर : कार्य के अनुकूल संयोगी पदार्थों की उत्पत्ति के समय अनिवार्य

उपस्थिति होने से कार्य के अनुकूल होने से एवं उन्हें आगम में भी कारण संज्ञा प्राप्त होने से साधारण जन भ्रमित हो जाते हैं; परन्तु वे संयोगी पदार्थ कार्य के पर्याय युक्त द्रव्य का व्यय

अनुसूय या कार्यरूप स्वयं परिणमित न होने से कर्ता नहीं हो सकते। कहा भी है - **न्येद परिणामति सेः कर्तृत्वमपेक्षितं**। प्रसिद्ध भेद ही हो भी है। इन्हीं के स्वरूप प्रकारान्तर से हैं -

१. अन्वय कारण २. उत्पादन कारण ३. संहारकारण ४. साधकतम कारण। इनका स्वरूप परिशिष्ट में दिया है।

## निमित्तोपादान कारण : स्वरूप एवं भेद-प्रभेद

**प्रश्न ८:** निमित्त कारण किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो पदार्थ स्वयं तो कार्यरूप परिणत न हों, परन्तु कार्य की उत्पत्ति में अनुकूल होने से जिन पर कारणपने का आरोप आता है, उन्हें निमित्त कारण कहते हैं।

**प्रश्न ९:** निमित्त-उपादान में परस्पर क्या अन्तर है ?

उत्तर : जिसके बिना कार्य हो नहीं और जो कार्य को करे नहीं, वह निमित्त है तथा जो स्वयं समर्पित होकर कार्यरूप परिणत हो जाय, वह उपादान है। दूसरे शब्दों में कहें तो जिसके साथ कार्य की बाह्य व्याप्ति हो वह निमित्त तथा जिसके साथ कार्य की अन्तरंग व्याप्ति हो वह उपादान है।

**प्रश्न १० :** निमित्तों का ज्ञान क्यों आवश्यक है ?

**उत्तर :** निमित्तो का यथार्थ स्वरूप जाने बिना निमित्तों को कर्ता माने तो श्रद्धा मिथ्या है तथा निमित्तों को माने ही नहीं तो ज्ञान मिथ्या है।

**प्रश्न ११ :** क्या निमित्तों की पृथक् सत्ता है, स्वतंत्र अस्तित्व है ? यदि है तो बताइये छह द्रव्यों में कौन द्रव्य उपादान व कौन द्रव्य निमित्त है ?

**उत्तर :** नहीं , ऐसा कोई बटवारा नहीं है। जो द्रव्य पर पदार्थों के परिणामन में निमित्त रूप हैं, वे सभी निमित्त रूप द्रव्य स्वयं के लिए उपादान भी हैं। उदाहरणार्थ : जो कुम्हार घट कार्य का निमित्त है, वही कुम्हार अपनी इच्छारूप कार्य का उपादान भी तो है।

निमित्त व उपादान कारणों के अलग-अलग गाँव नहीं बसे हैं। जो दूसरों के कार्य के लिए निमित्त हैं, वे ही स्वयं अपने कार्य के उपादान भी हैं।

**प्रश्न १२ :** क्या निमित्त कारण के अन्य नाम भी हैं ?

**उत्तर :** हाँ, कारण, प्रत्यय, हेतु, साधन, सहकारी, उपकारी, उपग्राहक, आश्रय, आलम्बन, अनुग्राहक, उत्पादक, कर्ता, प्रेरक, हेतुमत, अभिव्यंजक आदि नामान्तरों का प्रयोग भी आगम में निमित्त के अर्थ में हुआ है।

**प्रश्न १३ :** क्या निमित्त कई प्रकार के होते हैं, निमित्तों के कुल कितने भेद हैं और उनका क्या स्वरूप है ?

**उत्तर :** वैसे तो निमित्त असंख्य प्रकार के हो सकते हैं। जितने कार्य उतने ही उनके निमित्त; परन्तु आगम में स्थूलरूप से उन्हें आठ वर्गों में

विभाजित किया गया है। जिन्हें रागादि विभावभावरूप कार्यो के सम्पन्न होने में निमित्त कारणों के रूप में इसप्रकार खोज सकते हैं -

**१. रागादि का अन्तरंग निमित्त :** मोहनीय कर्म का उदय।

**२. बहिरंग निमित्त :** स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, रोग, शत्रु-मित्र आदि बाह्य वस्तुएँ।

**३. प्रेरक निमित्त :** इच्छा शक्तिवाले जीव तथा गमन क्रियावाले जीव पुद्गल।

**४. उदासीन निमित्त :** निष्क्रिय धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा इच्छा व राग रहित पर पदार्थ।

**५. वलाधान निमित्त :** वल+आधान = वल का धारण। उपकार, आलम्बन आदि इसके पर्यायवाची हैं। निष्क्रिय होने पर भी जिनका क्रियाहेतुत्व नष्ट नहीं होता उसे वलाधान कहते हैं। प्रेरणा किए बिना सहायक मात्र होने से इसे उदासीन भी कहते हैं।

वलाधान निमित्त को समझाते हुए कहा गया है - जैसे अपनी जांघ के बल चलनेवाले पुरुष को यष्टि ( लकड़ी ) का आलंबन वलाधान निमित्त है। वस्तुतः निष्क्रिय निमित्तों का ही एक नाम वलाधान है।<sup>१</sup>

**६. प्रतिबन्धक :** रुकावट करनेवाले या बाधक निमित्त। जैसे-सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में मिथ्यात्व कर्म का उदय तथा अज्ञानी गुरु आदि का मिलना।

**७. अभावरूप निमित्त :** समुद्र की निस्तरंग दशा में हवा का न चलना। तत्त्वोपलब्धि के लिए तदनुकूल सत्समागम का अभाव।

**८. सद्भावरूप निमित्त :** तरंगित दशा में वायु का चलना। तत्त्वोपलब्धि में सत्संग का मिलना।

**प्रश्न १४ :** निमित्तों को उपचरित कारण या आरोपित कारण क्यों कहा?

१. क्रिया हेतुमेतेषां, निष्क्रियाणां न हीयते। यत्खलु बलाधान मात्र मन विवक्षितम् ॥

**उत्तर :** क्योंकि जिनसे कार्य सम्पन्न तो न हो; किन्तु जिनकी उपस्थिति या सन्निकटता हो, उन्हें उपचरित या आरोपित कारण कहा जाता है।

उदाहरण : जैसे वर के साथ घोड़े पर बैठे बालक को अनवर कहते हैं। यद्यपि उसमें वरपना किंचित् भी नहीं है, उसे दुल्हन नहीं मिलती; तथापि सहचारी या सन्निकट होने से उसे 'अनवर' कहा जाता है और मात्र सम्मान मिलता है।

हाँ, उस बालक को 'अनवर' नाम और सम्मान मुफ्त में नहीं मिला। वह अपने सीने पर गोली झेलने जैसा खतरा झेलता है। पहले जब स्वयंवर होते थे। बारात यानि वरयात्रा निकलती थी, उसमें अनवर वर की ही पोशाक में रहता था, जो वर की सुरक्षा करता था। यदि कोई सामने से आक्रमण करे तो पहले अनवर झेलता था। इसीप्रकार निमित्तों को भी निन्दा-प्रशंसा के प्रहार झेलने एवं सहने पड़ते हैं।

प्रधानमंत्री-राष्ट्रपति की गाड़ी के समान ही दो गाड़ी आगे, दो गाड़ी पीछे रहती हैं क्योंकि वे अंग रक्षक हैं।

**प्रश्न १५ :** उपादान कारण किसे कहते हैं ?

**उत्तर :** जो द्रव्य स्वयं कार्यरूप परिणमित हो अथवा जिस पदार्थ में कार्य निष्पन्न हो उसे उपादान कारण कहते हैं। पदार्थ की निज सहज शक्ति या मूल स्वभाव ध्रुव उपादान कारण है तथा द्रव्यों में अनादिकाल से जो पर्यायों का परिणमन हो रहा है, उसमें अनन्तर पूर्वक्षणवर्ती पर्याय एवं कार्योत्पत्ति के समय की पर्यायगत योग्यता क्षणिक उपादान कारण है। यह पर्यायगत योग्यता ही कार्य का समर्थ कारण है।

**प्रश्न १६ :** उपादान कारण कितने प्रकार के होते हैं ?

**उत्तर :** उपादान कारण के मूलतः दो भेद हैं - एक त्रिकाली या ध्रुव उपादान और दूसरा तात्कालिक या क्षणिक उपादान।

क्षणिक उपादान भी दो प्रकार का है -

(क) अनन्तरपूर्वक्षणवर्तीपर्याय।

(ख) तत्समय की योग्यता।

इसप्रकार उपादान कारण तीन प्रकार का हो गया है, जो इसप्रकार है

(१) त्रिकाली उपादान कारण।

(२) अनन्तर पूर्वक्षणवर्ती पर्याय के व्ययरूप क्षणिक उपादान कारण।

(३) तत्समय की योग्यतारूप क्षणिक उपादान कारण।

**प्रश्न १७ :** 'योग्यता' शब्द तो आगम में अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ 'योग्यता' का क्या अर्थ है ?

**उत्तर :** जीव की प्रत्येक समय की पर्याय में जो राग या वीतरागतारूप परिणमन करने की स्वतंत्र शक्ति है, उसे ही उपादान की तत्समय की योग्यता कहते हैं।

द्रव्य में जब/जो कार्य होता है, वह स्वयं द्रव्य की अपनी तत्समय की उपादानगत योग्यता से ही होता है। समय-समय का क्षणिक उपादानकारण पूर्ण स्वाधीन है, स्वतंत्र है, स्वयंसिद्ध है। उसे पर की कोई अपेक्षा नहीं है।

यद्यपि कार्य सम्पन्न होने के काल में कार्य के अनुकूल परद्रव्य रूप निमित्त होते अवश्य हैं; परन्तु उन निमित्तों का कार्य सम्पन्न होने में कोई योगदान नहीं होता। ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है।

**“निमित्तमात्रं तत्र, योग्यता वस्तुनि स्थिता।**

**बहिनिश्चयकालस्तु, निश्चितं तत्त्वदर्शिभिः ॥**

वस्तु में स्थित परिणमनरूप योग्यता ही कार्य का नियामक कारण है, जिसे अंतरंग निमित्त कहा है। निश्चय कालद्रव्य को बाह्यनिमित्त कारण कहा है।<sup>१</sup>”

**प्रश्न १८ :** त्रिकाली उपादान एवं क्षणिक उपादानों का क्या स्वरूप

१. ( गोमटसार जीवकाण्ड गाथा ५८० )



है ?

**उत्तर :** जो द्रव्य या गुण स्वयं कार्यरूप परिणमित हो, उसे **त्रिकाली** उपादान कारण कहते हैं। पदार्थ की निज सहजशक्ति या मूलस्वभाव ध्रुव या त्रिकाली उपादान है। जिस पदार्थ में कार्य निष्पन्न होता है, वह त्रिकाली या ध्रुव उपादान कारण कहलाता है।

ध्रुव उपादान कारण स्वयं कार्यरूप परिणमित होता है। जैसे मिट्टी स्वयं घटरूप परिणमित होती है। अतः घट कार्य का ध्रुव उपादान रूप नियामक कारण मिट्टी है। इसीप्रकार आत्मा अथवा श्रद्धा, ज्ञान एवं चारित्र गुण स्वयं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रूप परिणमता है। अतः आत्मा की इन पर्यायों या कार्यों का ध्रुव त्रिकाली उपादान रूप नियामक कारण आत्मा या श्रद्धा ज्ञान चारित्रगुण है।

तात्कालिक या क्षणिक उपादान कारणों में जो अनन्तरपूर्वक्षणवर्तीपर्याय युक्त द्रव्य का व्यय प्रथम क्षणिक उपादान कारण है, उस कारण का अभाव करते हुए कार्य उत्पन्न होता है। अतः इस कारण को अभावरूप नियामक कारण कहते हैं तथा कार्य होने की योग्यता रूप दूसरा क्षणिक उपादान कारण है, वही पर्याय 'योग्यता' की अपेक्षा कारण एवं वही पर्याय 'परिणमन' की अपेक्षा कार्य कही जाती है।

वस्तुतः जो वह पर्याय की तत्समय की योग्यता ही कार्य का नियामक और समर्थ कारण है। परन्तु तीनों ही उपादान कारणों को भी भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से नियामक कारण कहा गया है।

उदाहरणार्थ : सम्यग्दर्शन रूप कार्य के कारण इसप्रकार हैं -

त्रिकाली उपादान कारण - जीवद्रव्य या श्रद्धागुण

क्षणिक उपादान कारण नं. १ - अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय का व्यय अर्थात् मिथ्यादर्शन का व्यय।

क्षणिक उपादान कारण नं. २ - तत्समय की योग्यता अर्थात् सम्यग्दर्शन

प्रगट होने का उत्पाद।

माना कि - दस नं.की पर्याय (सम्यग्दर्शन) जीवद्रव्य या श्रद्धागुण का कार्य है, जो कि उसके पूर्व की नौ नं. की पर्याय (मिथ्यादर्शन) का अभाव करके हुई है। ये नौ एवं दस नं. की दोनों पर्यायें भिन्न-भिन्न हैं, स्वतंत्र हैं। इनमें काल भेद है। अतः इनमें तो कारण-कार्य संबंध बन नहीं सकता; परन्तु नौ नं. की मिथ्यात्व पर्याय का व्यय एव दस नम्बर की समकित पर्याय के उत्पाद का समकाल है एवं समभाव है। वस्तुतः ये दोनों दो हैं ही नहीं, एक ही हैं। इन्हीं में तत्समय कार्यरूप परिणमन की योग्यता कारण एवं परिणमन कार्य है।

ध्यान दें, क्षणिक उपादान नं. की अनन्त समय में ही अर्थात् समकाल में ही सम्यग्दर्शन की योग्यता का प्रगट होना नियामक और समर्थकारण एवं उसी क्षण प्रगट हुई सम्यग्दर्शन की पर्याय कार्य है।

**प्रश्न १९ :** क्या नियामक कारण भी अनेक प्रकार के हो सकते हैं ?

**उत्तर :** क्यों नहीं ? अवश्य हो सकते हैं।

प्रत्येक कार्य (पर्याय) का त्रिकाली उपादान इस बात का नियामक है कि यह कार्य (पर्याय) अमुक द्रव्य या उसके अमुक गुण में ही होगा, अन्य द्रव्य में नहीं और उसी द्रव्य के अन्य गुण में भी नहीं। सम्यग्दर्शनरूप कार्य आत्मद्रव्य और उसके श्रद्धागुण में ही सम्पन्न होगा, पुद्गलादि द्रव्यों या आत्मा के ज्ञानादि गुणों में नहीं।

अनन्तरपूर्वक्षणवर्तीपर्याय से युक्त द्रव्य का व्ययरूप क्षणिक उपादान विधि (पुरुषार्थ) का नियामक है। इस उपादान कारण से यह सुनिश्चित होता है कि यह कार्य इस विधि से, इस प्रक्रिया से ही सम्पन्न होता है, अन्य प्रकार से नहीं।

तत्समय की योग्यतारूप क्षणिक उपादान काल का नियामक है। जिस द्रव्य या गुण में जिस समय जिस कार्यरूप परिणमित होने की पर्यायगत

योग्यता होती है, वह द्रव्य या वह गुण उसी समय कार्यरूप परिणामित होता है।

चूंकि कार्य का दूसरा नाम पर्याय अर्थात् काल भी है, यही कारण है कि काल के नियामक तत्समय की योग्यतारूप क्षणिक उपादान को कार्य का नियामक कारण भी कहा जाता है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि स्वभाव का नियामक त्रिकाली उपादान, विधि ( पुरुषार्थ ) का नियामक अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय से युक्त द्रव्यरूप क्षणिक उपादान और काल का या कार्य का नियामक तत्समय की योग्यतारूप क्षणिक उपादान रहा।

**प्रश्न २० :** ध्रुव उपादान को वस्तुतः समर्थ कारण क्यों नहीं माना गया ?

**उत्तर :** ध्रुव उपादान को कार्य का समर्थ कारण इसकारण नहीं माना जा सकता है कि उनके रहते हुए भी कार्य सम्पन्न नहीं होता। यदि ध्रुव उपादान को समर्थ कारण मानेंगे तो कारण के रहते कार्य सदैव होते रहने का प्रसंग प्राप्त होगा।

**समर्थ कारण कहते ही उसे हैं, जिसके होने पर कार्य नियम से होवे ही होवे और जिसके बिना कार्य होवे ही नहीं।**

**प्रश्न २१ :** जब यह त्रिकाली उपादान समर्थ कारण नहीं है तो इसको कारण कहा ही क्यों ?

**उत्तर :** यद्यपि त्रिकाली उपादान समर्थकारण नहीं है, परन्तु यह स्वभाव का नियामक है। जब भी कार्य होगा, तब इसी ध्रुव या त्रिकाली उपादान में से ही होगा। अन्य किसी द्रव्य में से नहीं होगा। इस अपेक्षा त्रिकाली द्रव्य को द्रव्यार्थिकनय से कार्य का नियामक कारण कहा है। यह नय सम्पूर्ण द्रव्य को ग्रहण करता है।

**प्रश्न २२:** ऐसा कारण मानने से क्या लाभ है ?

**उत्तर :** ध्रुव उपादान को कारण मानने से लाभ यह है कि - साधक

की दृष्टि अन्य अनन्त द्रव्यों पर से हटकर एक अपने त्रिकाली ध्रुव उपादान कारण का ही आश्रय करने लगती है। इसी अपेक्षा इसे आश्रयभूत कारण भी कहा जाता है।

रत्नत्रयस्वरूप कार्य प्रगट करने की भावना वाला व्यक्ति अन्य अनेक व्यवहार के विकल्पों में उलझे उपयोग को वहाँ से हटाकर अपने त्रिकाली आत्मद्रव्य का ही आश्रय लेने लगता है। यह प्रयोजन देखकर ही त्रिकाली उपादान कारण को उपचार से कारण कहा है।

**प्रश्न २३ :** आगम में अनन्तर पूर्वक्षणवर्ती पर्याययुक्त द्रव्य के व्यय को कारण और अनन्तर उत्तरक्षणवर्ती पर्याययुक्त द्रव्य के उत्पाद को कार्य कहा गया है।

जब यहाँ एक ही वस्तु ( पर्याय ) को नास्ति से पूर्व पर्याय का व्यय और अस्ति से उत्तर पर्याय का उत्पाद कहा जा रहा है तो यहाँ व्यय को उत्पाद का कारण कहने का क्या हेतु है ?

जब ये दोनों एक ही पर्याय के नामान्तर हैं अथवा एक ही पर्याय के अंश हैं, इनमें कालभेद व पर्याय भेद है ही नहीं तो इनमें कारण-कार्य विवक्षा कैसे संभव है ?

**उत्तर :** पूर्व पर्याय का व्यय ही नवीन पर्याय का उत्पाद है अर्थात् पूर्वपर्याय के व्ययपूर्वक ही नवीन उत्पाद होता है। व्यय के बिना उत्पाद नहीं होता। यह विधि या पुरुषार्थ का नियामक है। जब भी कार्य होगा तो इस विधि पूर्वक ही होगा - ऐसा नियम बताने के लिए पूर्व पर्याय के व्यय को कारण कहा जाता है। □

यद्यपि उत्तर पर्याय का उत्पाद ही पूर्व पर्याय का व्यय है, इनमें वस्तुभेद व कालभेद नहीं है; तथापि आगम में ऐसी कथन पद्धति है कि - नास्ति से व्यय को अभावरूप कारण व अस्ति से उत्पाद को कार्य कहा

जाता है।

**प्रश्न २४ :** सहकारी कारण सापेक्ष विशिष्ट पर्यायशक्ति से युक्त द्रव्यशक्ति ही कार्यकारी है। इस कथन का क्या अर्थ है?

**उत्तर :** शक्ति दो प्रकार की होती है - द्रव्यशक्ति और पर्यायशक्ति। इन दोनों शक्तियों का नाम ही उपादान है। पर्यायशक्ति से युक्त द्रव्यशक्ति ही कार्यकारी होती है। द्रव्यशक्ति नित्य होती है और पर्यायशक्ति अनित्य। यद्यपि नित्यशक्ति के आधार पर कार्य की उत्पत्ति मानने पर कार्य के नित्यत्व का प्रसंग आता है; अतः पर्याय शक्ति को ही कार्य का नियामक कारण स्वीकार किया गया है। तथापि द्रव्यशक्ति यह बताती है कि यह कार्य इस द्रव्य में ही होगा, अन्य द्रव्य में नहीं और पर्यायशक्ति यह बताती है कि विवक्षित कार्य विवक्षित समय में ही होगा। अतः न तो द्रव्यशक्ति महत्त्वहीन है और न पर्यायशक्ति ही; दोनों का ही महत्त्व है। पर, ध्यान रहे काल की नियामक पर्यायशक्ति ही है। काल का दूसरा नाम भी पर्याय है। यह पर्यायशक्ति अनन्तपूर्वक्षणवर्तीपर्याय के व्ययरूप एवं तत्समय की योग्यतारूप होती है। अतः इन दोनों की ही क्षणिक उपादान संज्ञा है। इसीलिए क्षणिक उपादान को कार्य का नियामक कहा गया है।

यदि त्रिकाली उपादान को भी शामिल करके बात कहें तो इसप्रकार कहा जायेगा कि पर्यायशक्ति युक्त द्रव्यशक्ति कार्यकारी है, पर इसमें भी नियामक कारण के रूप में तो पर्यायशक्तिरूप क्षणिक उपादान ही रहा।

यदि निमित्त को भी इसमें शामिल करके बात करनी है तो इसप्रकार कहा जाता है कि - सहकारीकारणसापेक्ष विशिष्ट पर्यायशक्ति से युक्त द्रव्यशक्ति ही कार्यकारी है।

## कार्य की निष्पन्नता में निमित्तों का स्थान

**प्रश्न २५ :** निमित्तों को कर्ता मानने से क्या-क्या हानियाँ हैं ?

**उत्तर :** १. निमित्तों को कर्ता मानने से उनके प्रति राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है।

२. यदि धर्मद्रव्य को गति का कर्ता माना जायेगा तो निष्क्रिय आकाशद्रव्य को भी गमन का प्रसंग प्राप्त होगा, जो कि वस्तुस्वरूप के विरुद्ध है।

३. यदि गुरु के उपदेश से तत्त्वज्ञान होना माने तो अभव्यों को भी सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति मानने का प्रसंग प्राप्त होगा, जबकि अभव्य को सम्यग्ज्ञान की योग्यता ही नहीं है।

४. निमित्तों को कर्ता मानने से **सबसे बड़ी हानि यह है कि - “अनादि निधन वस्तुयें भिन्न-भिन्न अपनी मर्यादा में परिणमित होती हैं, कोई किसी के अधीन नहीं है। कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होती”**<sup>१</sup> इस आगमोक्त वस्तुस्वातंत्र्य के मूल सिद्धान्त का हनन हो जायेगा।

**प्रश्न २६ :** निमित्त कर्ता नहीं, क्या इसका कोई आगम प्रमाण है ?

**उत्तर :** हाँ, ऐसे अनेक आगम प्रमाण हैं, जिनसे निमित्तों का अकर्तृत्व सिद्ध होता है ?

१. भगवान महावीर के पूर्व भव का जीव मारीचि इसका ज्वलंत उदाहरण है। तीर्थंकर ऋषभदेव जैसे समर्थ निमित्त की उपस्थिति से भी मारीचि के भव में उपादान की योग्यता न होने से भगवान महावीर के जीव का कल्याण नहीं हुआ तथा महावीर स्वामी के उस भव पूर्व जब सिंह की पर्याय में उनके उपादान में सम्यग्दर्शन रूप कार्य होने की योग्यता आ गई तो निमित्त तो बिना १. ( समयसार कलश ५१ कर्ता-कर्म अधिकार)

बुलाये आकाश से उतर आये।

२. तीर्थंकर भगवान महावीर जैसे समर्थ निमित्त के होते हुए मंखलि गोसाल का कल्याण नहीं होना था सो ६२ दिन तक भगवान महावीर की दिव्यध्वनि की प्रतीक्षा करने के बावजूद भी जब दिव्यध्वनि खिरने का काल आया तभी क्रोधित होकर वहाँ से चला गया।

३. नरकों में वेदना व जातिस्मरण को भी सम्यग्दर्शन का निमित्त कह दिया है। इससे सिद्ध होता है कि निमित्त कर्ता नहीं है; क्योंकि वेदना तो सबको होती है, फिर सम्यग्दर्शन सबको क्यों नहीं होता ?

४. केवली का पादमूल तो बहुतों को मिला, पर सबको क्षायिक सम्यक्त्व नहीं हुआ।

५. शील के प्रभाव से यदि अग्नि का जल हो जाने का नियम हो तो पाण्डवों के शील की क्या कमी थी ? उनके तो अठारह हजार प्रकार का शील था। फिर भी वे क्यों जल गये ? उनके हाथ-पैरो में पहनाये गये दहकते लोहे के कड़े ठंडे क्यों नहीं हुए ?

**प्रश्न २७ :** 'निमित्त कर्ता नहीं' इसका और क्या ठोस आधार है ?

**उत्तर :** हाँ है, निमित्त स्वयं कार्यरूप परिणमन नहीं करता। जो स्वयं कार्यरूप परिणमता है, वही वास्तविक कर्ता है।

कहा भी है - 'यः परिणमति सः कर्ता।'<sup>१</sup>

**प्रश्न २८ :** निमित्तों में कर्तापने के भ्रम होने के क्या-क्या कारण हैं ?

उत्तर : भ्रम उत्पन्न होने का मूल कारण तो कर्ता-कर्म संबंधी भूल ही है। इसके अतिरिक्त - १. निमित्त कारणों का कार्य के अनुकूल होना, २. निमित्तों की अनिवार्य उपस्थिति, ३. निमित्तों का कार्य के सन्निकट होना, ४. आगम में निमित्त प्रधान कथनों की बहुलता, ५. निमित्त-नैमित्तिक संबंधों की घनिष्ठता, ६. कृतज्ञता ज्ञापन की प्रवृत्ति, ७. प्रेरक निमित्तों की

अहंभावना, ८. अनादिकालीन परपदार्थों में कर्तृत्वबुद्धि आदि भी भ्रम उत्पन्न करते हैं, ९. जो निमित्त उपादान के पूर्वचर, उत्तरचर एवं सहचर होते हैं, उन निमित्तों में भी सहज ही कर्तापन का भ्रम हो जाता है।

**प्रश्न २७ :** निमित्तों में कर्तापन के भ्रम को मेटने का मुख्य उपाय क्या है?

**उत्तर :** भ्रम से उत्पन्न हुई परपदार्थों में कर्तृत्वबुद्धि को मेटने का उपाय भ्रम को दूर करना ही है। जो जिनागम में प्रतिपादित निमित्तों के अकर्तृत्व के सिद्धान्त को भली-भाँति समझने एवं उसमें श्रद्धावान होने से ही दूर हो सकता है। एतदर्थ जिनागम का अध्ययन-मनन-चिन्तन करना आवश्यक है।

जिनागम में चारों अनुयोगों में इसप्रकार के उदाहरण उपलब्ध हैं, जिनसे निमित्तों का अकर्तृत्व सिद्ध होता है और यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि - परद्रव्यरूप निमित्त आत्मद्रव्य के परिणमनरूप कार्य में सर्वथा अकर्ता हैं। वे आत्मा के सुख-दुःख, जीवन-मरण आदि में कुछ भी सहयोग-असहयोग नहीं कर सकते।

जिन्होंने अपने विवेक से मन-मस्तिष्क को खुला रखकर आगम चक्षुओं से वस्तुस्वरूप को निरखा-परखा है, वे उपर्युक्त भ्रमोत्पादक कारणों के विद्यमान रहते हुए भी भ्रमित नहीं होते। उन्हें शीघ्र सन्मार्ग मिल जाता है।

आचार्य अमृतचन्द्र प्रवचनसार गाथा ८७ की टीका में लिखते हैं कि "जीव के किए हुए रागादि परिणामों का निमित्त पाकर नवीन-नवीन अन्य पुद्गल स्कन्ध स्वयमेव ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित हो जाते हैं। जीव इन्हें कर्मरूप परिणमित नहीं करता।"

इसी तथ्य के पोषक दो श्लोक पुरुषार्थसिद्धयुपाय में भी आये हैं, जो इसप्रकार हैं -

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्यपुनरन्ये ।  
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥  
परिणममानस्य चित्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावेः ।  
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥

तात्पर्य यह है कि जीव की तत्समय की योग्यता रूप उपादान-कारण से ही कार्य होता है; क्योंकि द्रव्य या पदार्थ स्वयं परिणमनस्वभावी हैं। उन्हें अपने परिणमन में परद्रव्यरूप निमित्तों की अपेक्षा नहीं होती।

**प्रश्न २८ :** निमित्तों को अकर्ता या अकिंचित्कर कहने से क्या लाभ है? जगत में तो जहाँ देखो वहीं निमित्तों के कर्तृत्व का ही बोलबाला है। कृतज्ञता ज्ञापन, आभार प्रदर्शन, धन्यवाद आदि निमित्तों के कर्तृत्व ही तो देन है। उपादान तो किसी को दिखाई भी नहीं देता और उससे किसी का परिचय भी नहीं है। अतः उपादान की महिमा आयेगी भी कैसे ?

**उत्तर :** जो हेतु कार्य के निष्पन्न होने में कुछ भी सहयोग या समर्पण न करे; जिसकी उपस्थितिमात्र हो। ऐसे कार्य के अनुकूल परद्रव्यों को अकिंचित्कर हेतु कहते हैं।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं करता; इसकारण उदासीन व प्रेरक आदि सभी प्रकार के निमित्तों को अकिंचित्कर या अकर्ता कहा गया है।

सभी द्रव्य तो स्वाधीन-स्वसहाय हैं ही; उनमें एकसाथ रहनेवाले अनंत गुण भी अपने-अपने में पूर्ण स्वाधीन हैं। गुणों में भी एक गुण को दूसरे गुण की आधीनता व अपेक्षा नहीं है। अतः गुण भी परनिरपेक्ष-असहाय ही हैं। इसकारण एक गुण भी दूसरे गुण में कुछ भी फेर-बदल नहीं कर सकता।

जब वस्तु पर की अपेक्षा या सहायता बिना ही अपना कार्य करने में सक्षम है तो फिर निमित्तों की अपेक्षा ही क्यों रखे ? और निमित्त भी बना वजह किसी अन्य के कार्यों में हस्तक्षेप करेगा ही क्यों ? किन्तु वस्तुस्वरूप से

अनभिज्ञ जगत की समझ में यह बात नहीं आ सकती। इसकारण वह परद्रव्यों के सान्निध्य से भ्रमित हो जाता है।

अन्तरंग-बहिरंग, प्रेरक-उदासीन, वलाधान, प्रतिबन्धक आदि सभी प्रकार के निमित्त-उपादान में कुछ भी फेर-फार, परिणमन या कार्य नहीं करते। समस्त परद्रव्यरूप निमित्त **‘गतेर्धर्मास्तिकायवत्’** उदासीन ही हैं।

**प्रश्न २९ :** समयसार गाथा २७८ एवं २७९ तथा इनकी टीका में तो स्पष्ट लिखा है कि - निमित्त से ही कार्य होता है। वे मूल गाथाएँ इसप्रकार हैं-

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमदि राग मादीहिं ।  
रगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीतिं दव्ववेहिं ॥२७८॥  
एवं माणी सुद्धो ण सयं परिणमदि राग मादीहिं ।  
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादि तिं दोसेहिं ॥२७९॥

जिसप्रकार स्फटिक मणि शुद्ध होने से लालिमा रूप से अपने आप परिणमित नहीं होता; किन्तु अन्य लालिमायुक्त द्रव्यों से लाल किया जाता है, उसीप्रकार ज्ञानी (आत्मा) शुद्ध होने से अपने आप रागादि रूप नहीं परिणमता; परन्तु अन्य रागादि दोषों से वह रागादि रूप किया जाता है।

**उत्तर :** यद्यपि निर्मल स्वभाववाला स्फटिकमणि अकेले अपने कारण ही लालिमा आदि रूप नहीं होता; परद्रव्य का संसर्ग होने से यानि लाल-पीले फूल के संसर्ग से उसमें लाल-पीली झाँई होती है। परद्रव्य के संयोग या निमित्त की मुख्यता से यह कथन बिल्कुल सही है; परन्तु वस्तुस्वरूप की ओर से देखें तो उसमें जो लाल-पीली झाँई पड़ती है, वह मात्र लाल-पीले फूल के कारण भी नहीं हुई है, यदि वह मात्र स्फटिक की झाँई लाल-पीले फूलों के संसर्ग से ही हुई हो तो लाल-पीले फूलों के संसर्ग से लकड़ी में भी लाल-पीली झाँई पड़नी चाहिए। पर ऐसा तो होता नहीं है; क्योंकि लकड़ी की वैसी योग्यता ही नहीं है। मात्र स्फटिक में ही वैसी योग्यता होती है। अतः

स्पष्ट है कि यह लाल-पीले रूप होना स्फटिक की ही अपनी पर्यायगत योग्यता है।

**प्रश्न ३० :** टीका में तो और भी स्पष्ट लिखा है कि - 'आत्मा परद्रव्य के द्वारा ही शुद्ध स्वभाव से च्युत करके रागादिरूप परिणमित किया जाता है।

**उत्तर :** हाँ, लिखा है; परन्तु यह तो निमित्त की भाषा है, निमित्त सापेक्ष कथन है। वास्तव में तो स्फटिक मणि स्वयं अपनी वर्तमान योग्यता से परद्रव्य के निमित्त से लालिमायुक्त परिणमित होता है। निमित्त की अपेक्षा लाल-पीले फूलों को कारण कहा जाता है। वस्तुतः निमित्त ने उसमें कोई विलक्षणता नहीं की।

**प्रश्न ३१ :** यदि ऐसा है तो 'निमित्त से कार्य होता है' - ऐसा क्यों कहा?

**उत्तर :** कार्य के काल में निमित्त मात्र उपस्थित होता है। बस, इसीकारण निमित्त से कार्य होता है - ऐसा कहा जाता है; परन्तु निमित्त पर में (उपादान) में करता कुछ नहीं है। जिसप्रकार अग्निरूप ईंधन को जलाने में निमित्त तो है, पर कर्ता नहीं है। यदि ईंधन में जलने की योग्यता न हो तो अग्नि उसे नहीं जला सकती। जिसप्रकार अभ्रक में जलने की योग्यता नहीं है तो अग्नि इसे नहीं जला पाती।

जिसप्रकार ईंधन अपने ज्वलनशील स्वभाव से ही जलता है, उसमें अग्नि की निमित्तता होती है, उसीप्रकार उपादान में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य रूप कार्य अपनी उपादानगत योग्यता से होते हैं और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु उसमें निमित्त होते ही हैं। वे उसमें कुछ करते नहीं हैं। ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

निमित्त का यथार्थ ज्ञान कराने के लिए यहाँ यह कहा जा रहा है कि विशेष जानने के लिए, देखें, प्रवचनरत्नाकर भाग - ८, पृष्ठ २४६-२४७

भगवान् आत्मा शुद्ध चिदानन्दघन प्रभु निमित्त कारण के अभाव में अकेला स्वयं राग-द्वेषरूप परिणमन नहीं करता, किन्तु आत्मा जब अपने अशुद्ध उपादान से स्वयं रागरूप परिणमता है, तब कर्म का रागरूप उदय नियम से निमित्त होता ही है। बस, इसीकारण यह कहा जा रहा है कि आत्मा द्रव्य के द्वारा ही रागादि रूप परिणमता है।

**प्रश्न ३२ :** जब आत्मा में रागादि विकार स्वद्रव्य के कारण नहीं होते। तो आत्मा परद्रव्य के द्वारा ही रागादिरूप परिणमता है। ऐसा कहने में क्या दोष है?

**उत्तर :** हाँ, ऐसा व्यवहार से, निमित्त की मुख्यता से कहने में कोई दोष नहीं है। निमित्त की मुख्यता से ऐसा ही कहा जाता है; परन्तु वस्तुतः देखा जाय तो उस समय जीव में रागादि रूप अवस्था होने की ही तत्समय की योग्यता है, परद्रव्य तो फिर भी निमित्त मात्र ही है। पर ने उसे रागादि रूप परिणमाया नहीं है।

व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि पर ने विकार कराया अथवा कर्मोदय से विकार हुआ; परन्तु यह सब उपचार कथन है।

समयसार की तीसरी गाथा में भी आया है कि - एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता भी नहीं है। प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य में रहकर अपने अनन्त धर्मों के चक्र को चूमता है; परन्तु पर द्रव्य का कभी भी स्पर्श नहीं करता।<sup>१</sup>

**प्रश्न ३३ :** समयसार कलश १७५ में तो यह स्पष्ट लिखा है कि - जिस तरह सूर्यकान्त मणि सूर्य के निमित्त बिना अपने आप अग्निमय नहीं होता उसी भाँति आत्मा पर के निमित्त बिना अपने को रागादि का निमित्त कारण कभी भी नहीं होता। उसमें निमित्तकारण तो परद्रव्य का संग ही है। ऐसा वस्तुस्वभाव प्रकाशमान है। फिर भी लोग निमित्त का निषेध क्यों करते हैं ?

**उत्तर :** देखो, यहाँ सूर्यकान्तमणि का उदाहरण देकर आत्मा के विकारी परिणमन की प्रक्रिया समझा रहे हैं। यद्यपि यह बात सच है कि सूर्यकान्तमणि स्वयं अपने आप अग्निरूप नहीं परिणमता, उसके अग्निरूप परिणमन में सूर्य का बिम्ब निमित्तभूत है; तथापि सूर्यकान्त मणि स्वयं की तत्समय की उपादान की योग्यता के बिना मात्र सूर्य के निमित्त कारण से अग्निमय नहीं होता। सूर्य सूर्यकान्तमणि को अग्निमय करने का कर्ता नहीं, फिर भी निमित्त तो है ही। निमित्त का निषेध नहीं बल्कि निमित्त के कर्तृत्व मात्र का निषेध है।

यदि अकेले सूर्यरूप निमित्त को ही अग्नि का उत्पादक माना जायेगा तो अन्य साधारण पत्थर में भी सूर्य से अग्नि उत्पन्न होने का प्रसंग प्राप्त होगा, जो संभव नहीं है तथा यदि निमित्त का सर्वथा निषेध करें तो रात्रि में भी सूर्य के बिना ही सूर्यकान्तमणि में अग्नि उत्पन्न होने का प्रसंग प्राप्त होगा। अतः सूर्य के निमित्तपने से भी इन्कार नहीं और सूर्य का निमित्त रूप सूर्यकान्तमणि में अग्नि उत्पन्न करने कर्ता भी नहीं; मात्र दोनों का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्ताकर्म सम्बन्ध नहीं है।

१. पचाध्यायी गाथा, अ. २, गाथा ३५९, ३६०, ३६१, ३६२

२. विशेषतः, अज्ञान के कारण सूर्यकान्तमणि में अग्नि उत्पन्न होता है, वह अपनी

उस समय की पर्यायगत योग्यता से होता है और सूर्य बिम्ब उसमें निमित्तरूप

होता निमित्त में कर्तृत्व के भ्रम का कारण बनकर निमित्त के अन्य

द्रव्य से अन्य द्रव्य के मण की उत्पत्ति नहीं की जा सकेगी। इससे यह

कार्य के अनुकूल संयोगी पदार्थों की कार्योत्पत्ति के समय आभिव्यक्ति

सिद्धान्त प्रकृत होता है कि सर्वद्रव्य अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न होते

उपास्थित होने से एवं कार्य के अनुकूल होने से एवं उन्हे आगम में भी

हैं। कारण संज्ञा प्राप्त होने से साधारणजन भ्रमित हो जाते हैं; परन्तु वे

जीव में और भी स्पष्ट कर दिया है। नहीं कहा है कि - ऐसी संज्ञा

संयोगी पदार्थ कार्य के अनुरूप या कार्यरूप स्वयं परिणमित न होने से

नहीं कला-साक्षि कि - परद्रव्य जीव को गुणादि उत्पन्न करते हैं, क्योंकि

कैसे नहीं हो सकते। कहीं भी है **यः परिणमति सः कर्ता।**

अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्यों के गुणों को उत्पन्न करने की अयोग्यता है;

अतः भ्रमित नहीं होना चाहिए।

- लेखक

क्योंकि सर्वद्रव्यों का स्वभाव से ही उत्पाद होता है।

**प्रश्न ३४ :** देह और पाँचों इन्द्रियों के विषयों के निकट रहने से ही मनुष्यों को ज्ञान और सुख होता है, इसलिए वे देहादि ज्ञान और सुख के अकिंचित्कर कैसे हो सकते हैं ?

**उत्तर :** उपादान कारण के आश्रय से (सामर्थ्य) ही निमित्त को हेतु कहा जाता है उपादान के बिना पर को कार्य का निमित्त नहीं कहा जा सकता है। जैसे अग्नि चन्दन के गन्ध की व्यंजक होती है, परन्तु चन्दन के बिना वह गन्ध उस अग्नि की नहीं हो सकती। इसीप्रकार देह, इन्द्रिय और इन्द्रियों के विषय पर के ज्ञान और सुख के मात्र अभिव्यंजक होते हैं; परन्तु ये स्वयं ज्ञान और सुखरूप नहीं हैं। अतः ज्ञान व सुखरूप होने में ये इन्द्रियाँ आदि अकिंचित्कर ही हैं।

दूसरे उपादान शून्य वस्तु में केवल अभिव्यंजक मात्र से ज्ञान और सुख नहीं हो सकते; अन्यथा वहाँ और सर्वत्र हेतु शून्य दोष का प्रसंग प्राप्त होगा। इसलिए यह बात सिद्ध है कि ज्ञान और सुख जीव के गुण हैं; क्योंकि इन गुणों का संसार ओर मुक्त दोनों ही अवस्था में अतिक्रमण नहीं पाया जाता।<sup>१</sup>

**प्रश्न ३५ :** जब कर्मों का तीव्र उदय होता है, तब पुरुषार्थ नहीं हो सकता। ११ वें गुणस्थान से भी जीव नीचे गिर जाता है। आगम में इस कथन का क्या अर्थ है ?

**उत्तर :** जब जीव स्वयं अपने विपरीत पुरुषार्थ से बड़ा दोष करता है, राग-द्वेषरूप परिणमता है, उस कर्म के उदय को तीव्र उदय कहते हैं; क्योंकि यदि जीव सम्यक् पुरुषार्थ करे तो कर्म कैसा भी उदय में हो, उसे निर्जरा कहा जात है। कर्मोदय के कारण जीव गिरता नहीं है, अन्यथा जीव को मोक्ष का अभाव हो जायेगा।

प्रवचनसार गाथा ४५ की टीका में श्री जयसेनाचार्य कहते हैं कि -

षटखण्डागम धवला पुस्तक ६, सूत्र - ४, ७, १०, १३, १९, पृष्ठ १६४

‘द्रव्यमोह का उदय होने पर भी यदि शुद्ध आत्मभाव के बल से मोहभाव रूप परिणमन हो तो बन्ध नहीं होता तथा कर्म के उदयभाव से बंध नहीं होता। यदि उदयमात्र से बंध होता हो तो संसारी के सर्वथा ही कर्म का उदय विद्यमान होने से सदा ही बंध होता रहेगा, मोक्ष कभी होगा ही नहीं।<sup>१</sup>

## अंतरंग कारण से कर्म (कार्य) की उत्पत्ति

**प्रश्न ३६ :** एक ही कषाय परिणाम के निमित्त से होनेवाली भिन्न-भिन्न प्रकृतियों का स्थितिबंध एकसमान न होकर भिन्न-भिन्न क्यों होता है ? जैसे कि - ज्ञानारवणी, दर्शनावरणी, वेदनीय, स्त्रीवेद, मनुष्यगति आदि कर्म प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम कहा है। मिथ्यात्वकर्म का उत्कृष्ट स्थितिबंध सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागरोपम तथा अनन्तानुबंधी आदि सोलह कषायों की प्रकृति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध चालीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम कहा है।

**उत्तर :** प्रकृतियों का अपना अन्तरंग ( उपादान ) कारण ही वास्तविक

कारण है। कषाय का परिणमन तो निमित्तमात्र है, उपचरित कारण है; क्योंकि प्रकृति विशेष होने से उक्त प्रकृतियों का यह स्थिति बंध होता है। सभी पदार्थ एकान्त से बाह्य अर्थ ( पदार्थ ) की अपेक्षा करके ही उत्पन्न नहीं होते। अन्यथा शालिधान्य के बीज से जौ के अंकुर की उत्पत्ति का प्रसंग प्राप्त होगा। इसलिए अन्तरंग कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है - ऐसा जानना।<sup>१</sup>

**प्रश्न ३७ :** तो क्या आत्मा के परिणामों का कर्मों के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध भी नहीं है ?

**उत्तर :** हाँ, वास्तविक बात तो ऐसी ही है क्योंकि जिसको अपने निज स्वभाव के साथ स्व-स्वामी सम्बन्ध प्रगट हो गया है, एक ज्ञायकभावपने ही जिसका परिणमन हुआ है - ऐसे धर्मी पुरुष का कर्म के साथ के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का विच्छेद होता जाता है तथा जिसे स्वभाव की दृष्टि नहीं हुई - ऐसा अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव ही कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध रूप परिणमन करता है।

साधक जीव को जैसे-जैसे निज स्वभाव में एकता का परिणमन दृढ़ होता जाता है, वैसे-वैसे ही कर्म का संबंध छूटता जाता है और क्रमशः कर्म के सम्बन्ध रहित हो जाता है, सिद्धपद प्राप्त कर लेता है।

**प्रश्न ३८ :** यदि निमित्त सचमुच कुछ नहीं करते तो उन्हें कारण कहा ही क्यों ?

**उत्तर :** संयोग अथवा निमित्त को उपचार से कारण कहा है वह वास्तविक कारण नहीं, क्योंकि वस्तुतः वे उपस्थित अवश्य रहते हैं, परन्तु करते कुछ भी नहीं।

**प्रश्न ३९ :** यदि अकेले उपादान से ही कार्य होता है तो फिर शास्त्रों में निमित्त की चर्चा की है क्यों ?





तो -

**उपादान निज गुण जहाँ, तहाँ निमित्त पर होय ।  
भेदज्ञान परवान विधि, विरला बूझै कोय ॥४॥**

यद्यपि यहाँ निमित्त को संयोगरूप परद्रव्य कहा; परन्तु अन्य प्रकार से अपने में ही, एक द्रव्य में ही गुणभेद कल्पना करके गुणों में भी परस्पर निमित्तपने की चर्चा आगम में है। जैसे कि - जीव में ज्ञान और चारित्र दोनों गुणों का परिणमन सहकारी पने एकसाथ वर्त रहा है, उसमें चारित्र को उपादान और ज्ञानगुण को निमित्त कहा गया है।

यहाँ दो पृथक्-पृथक् द्रव्यों में निमित्त-उपादान बताया है। जैसे - मोक्षमार्गरूप कार्य का उपादान कारण शुद्धात्मा स्वयं है और बाह्य में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु निमित्त कारण हैं। इसप्रकार इस उदाहरण में उपादान व निमित्त दोनों भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं। और भिन्न-भिन्न वस्तुएँ एक-दूसरे में कुछ नहीं करतीं, एक-दूसरे को परिणमा नहीं सकतीं; क्योंकि दोनों भिन्न-भिन्न द्रव्यों के बीच अत्यन्ताभाव की बज्र की दीवाल खड़ी है। यही वस्तुस्वातंत्र्य का महा सिद्धान्त है। यह जानकर तत्त्वज्ञानी निमित्तों पर रोष-तोष नहीं करके समताभाव धारण करने का सम्यक् पुरुषार्थ करते हैं।

**प्रश्न ४३ :** अध्यात्म में 'नैमित्तिक' शब्द का क्या अर्थ है ? व्याकरण के अनुसार तो यह अर्थ है कि जो कार्य निमित्त से हो, उसे नैमित्तिक कहते हैं।

**उत्तर :** व्यवहार में तो यही परिभाषा चलती है कि जो कार्य निमित्त से हो वह

**प्रश्न ४२ :** 'वस्तु की सहज शक्ति' का क्या अर्थ है ?

**उत्तर :** उपादान वस्तु की सहज शक्ति निमित्त परसंयोग। जब उपादान कारण अपनी सहज शक्ति से कार्य करता है, तब जो संयोग रूप कारण हो, उसे निमित्त कहते हैं। 'वस्तु की सहजशक्ति' का अर्थ मात्र वस्तु की त्रिकाली शक्ति नहीं है; बल्कि द्रव्य-गुण-पर्याय - तीनों की शक्ति उपादान है।

उपादान और निमित्त - दोनों वस्तुयें भिन्न-भिन्न हैं, एक स्वभाव रूप, दूसरा, संयोग रूप। इसी बात को पं. बनारसीदास के शब्दों में कहें

## द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतन्त्रता

एक ही द्रव्य में रहनेवाले अनन्त और गुणों की स्वतंत्रता स्वीकार किए बिना उपादान-निमित्त का सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता। जिसप्रकार एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के आधीन नहीं, उसीप्रकार एक गुण दूसरे गुण के १.मोक्षमार्गप्रकाशक, नवम् अध्याय, पृष्ठ - ३२८

आधीन नहीं। चारित्र आदि अनन्त गुण ज्ञानादि दूसरे गुणों की सहायता से रहित है।

जब एक ही द्रव्य में त्रिकाल एक साथ रहनेवाले गुण भी एक-दूसरे की सहायता रहित-स्वाधीन हैं तो फिर त्रिकाल भिन्न रहनेवाले पदार्थ एक दूसरे की सहायता करें - यह बात ही कहाँ रही ?

ज्ञातव्य है कि आगम में एक ही द्रव्य के आश्रित दो गुणों में भी निमित्त-उपादान घटित होते हैं, क्योंकि एक ही द्रव्य के ये ज्ञान-चारित्र आदि गुण स्वाधीन हैं, एक गुण दूसरे के आधीन नहीं है।

वस्तु के अनन्त गुणों में जिसकी मुख्यता से कथन करना हो उसे उपादान और अन्य गुणों को निमित्त कहते हैं। जैसे - सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति तो समकाल में ही होती है; तथापि उनमें सम्यग्दर्शन की मुख्यता से उसे निमित्त कारण व सम्यग्ज्ञान की तत्समय की योग्यता रूप (उपादान) कारण एवं वही कार्य है। - ऐसा कहा जाता है।

**प्रश्न ४५ :** साक्षात् कारण और परम्परा कारण किसे कहते हैं ?

**उत्तर :** वस्तुतः तो उपादान कारण को साक्षात् कारण और निमित्त कारण को परम्परा कारण कहा जाता है। परन्तु जिन निमित्त कारणों के साथ कार्य होने का नियम तो नहीं है, फिर भी उन्हें कारण कहने का व्यवहार है, वे परम्परा कारण हैं। जैसे जैन मिथ्यादृष्टि को देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान, तत्त्वश्रद्धान, स्वपर का श्रद्धान और आत्मश्रद्धान आभास मात्र होता है। ये नियम रहित होने से सम्यक्त्व के परम्परा कारण हैं तथा इन चारों का ही सम्यक्दृष्टि के सच्चा श्रद्धान होता है अतः इन्हें सम्यक्त्व का साक्षात्कारण कहा है।<sup>१</sup>

**प्रश्न ४६ :** जिस जिनवाणी में यह लिखा है कि निमित्त उपादान में कुछ नहीं करते, उपादान के कार्य में निमित्त सर्वथा अकर्ता है; उसी

जिनवाणी में यह भी तो लिखा है कि निमित्त बिना भी उपादान में कार्य नहीं होता। उपादान के अनुकूल निमित्त होते हैं। जैसे कि - दर्शनमोह के उपशम, क्षय, क्षयोपशम के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी एवं वीर्यान्तराय कर्म के क्षय-क्षयोपशम बिना ज्ञान विशेष की प्राप्ति नहीं होती। पुण्योदय के बिना अनुकूल संयोग नहीं मिलते और आयु कर्मोदय के बिना जीवन संभव नहीं तथा आयुकर्म के क्षय हुए बिना मरण नहीं होता।

इतना ही नहीं, उसी जिनवाणी में यह भी लिखा है कि जब कर्मों का तीव्र उदय हो, तब पुरुषार्थ भी नहीं हो सकता। यहाँ तक कि - मिथ्यात्व कर्म के उदय में साधु ११ वें गुणस्थान जैसी निर्मल भूमिका से भी नीचे गिर कर मिथ्यात्व के प्रथम गुणस्थान में आ जाते हैं।

समयसार के बंध अधिकार में तो स्पष्ट लिखा ही है -

**निज आयुक्षय से मरण हो, यह बात जिनवर ने कही।  
तुम मार कैसे सकोगे, जब आयु हर सकते नहीं॥२४७॥  
सब आयु से जीवित रहें, यह बात जिनवर ने कही।  
जीवित रखोगे किस तरह, जब आयु दे सकते नहीं॥२५०॥  
है सुखी होते दुःखी होते, कर्म से सब जीव जब।  
तू कर्म दे सकता न जब, सुख-दुःख दे किस भांति तब॥२५४॥**

इसीप्रकार के और भी कथन आगम में यत्र-तत्र सर्वत्र विद्यमान हैं, जो परद्रव्यरूप निमित्तों के कर्तृत्व को सिद्ध करते हैं।

ऐसे कथन करके आखिर आचार्य किस प्रयोजन की सिद्धि करना चाहते हैं ? यदि निमित्त पर में कुछ करते ही नहीं है तो निमित्तों के कर्तृत्व सूचक ये कथन किए ही क्यों हैं ?

**उत्तर :** भाई ! ये सब कथन परद्रव्यों के साथ बन रहे सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंधों की अपेक्षा से किये गये हैं। यदि नयों की भाषा में कहें तो

उपचरित और अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय के कथन हैं।

इन कथनों का भी अपना प्रयोजन है। इन्हें कारण कहना निरर्थक नहीं है। कर्मों के उदय, क्षय, क्षयोपशम आदि अन्तरंग निमित्तों को कारण बताकर आचार्यदेव राग-द्वेष वर्द्धक शत्रु-मित्रादि, जो साक्षात् कषाय एवं कलह के कारण भासित होते हैं; उन बहिरंग निमित्तों पर से दृष्टि हटाना चाहते हैं।

एक किंवदन्ती है कि **‘बुद्धिमान बनिया सदैव गड़ा पत्थर उखाड़ता है।’** इस किंवदन्ती के गंभीर अर्थ और प्रयोजन पर कभी ध्यान दिया आपने? यदि नहीं तो सुनो - आमने-सामने लड़ाई-झगड़े के प्रसंगों पर जब बातों-बातों में बात मैं-मैं, तू-तू से हाथपाई तक पहुँचने को होती है तो बुद्धिमान बनिया सदैव गड़ा पत्थर उखाड़ने की चेष्टा करता है। भले ही सामने सैकड़ों पत्थर उखड़े पड़े हों, जिन्हें उठाकर आसानी से मारा जा सकता है, पर वह ऐसा नहीं करता; क्योंकि वह जानता है कि ऐसा करने से निश्चित झगड़ा बढ़ेगा, किसी को चोट लग सकती है, किसी का जान भी जा सकती है और दण्डस्वरूप उसे जेल भी हो सकती है। अतः वह गड़ा पत्थर उखाड़ने की चेष्टा द्वारा सामने वाले को भाग जाने का मौका देता है और स्वयं अपनी विजय जताकर इज्जत के साथ झगड़े से छुटकारा पा लेना चाहता है। इसीप्रकार आचार्यों ने कर्मरूप अंतरंग निमित्तों को कारण बताकर यही बुद्धिमानी का काम किया है। अंतरंग कारण जब दिखाई ही नहीं देते तो राग-द्वेष किससे करें? क्रोध प्रगट किस पर करें? अतः अन्तरंग कर्मोदय को कारण बताकर शत्रु-मित्रों पर से दृष्टि हटाई है।

आगे चलकर अंतरंग कारणों पर से भी दृष्टि हटाने हेतु कर्मों को भी कारण के रूप में नकार दिया है। जैसा कि निम्नांकित पद्य से स्पष्ट है -

**“कर्म विचारे कौन, भूल तेरी अधिकाई।**

**अग्नि सहे घनघात, लोह की संगति पाई ॥”**

जिसप्रकार अन्दर-बाहर से एवं काले कठोर लौह की कुसंगति करने से अग्नि को घन की चोटें सहनी पड़ती हैं; उसीप्रकार रागी-द्वेषी-कलुषित आत्मा के संपर्क में आने से कर्मों को बिना कारण ही गालियाँ सुननी पड़ती हैं।

यदि वस्तुस्वरूप के सन्निकट आकर विचार किया जाय तो निमित्त उपादान में तबतक कुछ भी परिवर्तन या उत्पाद-विनाश नहीं करता या कर सकता, जबतक उपादान में उस रूप परिणमन को तत्समय की योग्यता न हो।

जीव जब अपने विपरीत पुरुषार्थ से एवं खोटी होनहार से स्वयं भ्रष्ट होता है, लोकनिन्द्य पापमय प्रवृत्तियों में पड़ता है, स्वयं को संभाल नहीं पाता, उसे तीव्र कर्म का उदय कहा जाता है।

यदि वही जीव अपने सही पुरुषार्थ एवं भली होनहार से कर्मोदय से अप्रभावित रहकर स्वरूप सन्मुख होता है तो उसी कर्म के उदय को निर्जरा कहा जाता है।

प्रवचसार ग्रन्थ की गाथा ४५ की टीका में श्री जयसेनाचार्यदेव स्पष्ट लिखते हैं कि - द्रव्यमोह का उदय होने पर भी यदि शुद्ध आत्मभावना के बल से जीव मोहभाव रूप परिणमित न हो तो बन्ध नहीं होता।

वस्तुतः बात यह है कि कर्मों के उदय मात्र से बंध नहीं होता। यदि उदय मात्र से बंध होने लगे तो संसारी जीवों को सदैव कर्मोदय विद्यमान होने से सदैव बंध होता ही रहेगा, मोक्ष कभी होगा ही नहीं।

यही भाव पंचास्तिकाय गाथा १४९ की संस्कृत टीका में भी जयसेनाचार्य ने व्यक्त किए हैं। निम्नांकित पद्य से भी इसी बात की पुष्टि होती है -

**“सधै वस्तु असहाय जहाँ, तहाँ निमित्त है कौन।**

ज्यों जहाज परवाह में, तिरै सहज बिन पौन ॥६॥”

- कविवर बनारसीदास

जब वस्तु पर की सहायता बिना ही अपना कार्य करने में पूर्ण सक्षम है तो फिर निमित्त उसके कार्य में हस्तक्षेप करनेवाले होते कौन हैं ? जिसप्रकार जहाज जल प्रवाह में बिना पवन की सहायता लिए सहज ही तैरता है, उसीप्रकार अज्ञानी जीव भी स्वतंत्र रूप से, स्वयं ही निमित्ताधीन होकर परिणमन करता है, कर्म आदि कोई अन्य परद्रव्य उसे पारधीन नहीं करते।

कोई भी पदार्थ अपने से भिन्न परपदार्थ में कुछ भी नहीं कर सकता। अतः सभी प्रकार के निमित्तरूप ( परपदार्थ ) अकर्ता ही हैं। किसी भी प्रकार का कोई भी निमित्त उपादान में कुछ भी फेर-बदल, परिवर्तन या कार्य नहीं कर सकता। परन्तु जगत् की समझ में यह बात नहीं बैठती।

प्रवचनसार की २६ वीं गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने स्पष्ट लिखा है - **‘तो माया ही दोषा** है कि जिससे **वस्तुसकलमय, निमित्तेप्रदानसौ** ( बाह्यसाधन ) हूँदने की व्यग्रता के **सन्दर्भों में प्रकम्बद्धेपैयि**’ जैसे इसी गाथा में **प्रवचनसौ** है और स्वयंभू सदात् एवं अहेतुके **सौ** -

मोक्षमार्गप्रकाशक; बल्कि समस्त आगम इसका साक्षी है कि निमित्त अकर्ता है।

**प्रश्न ४७ :** यदि निमित्त अकर्ता है तो सुई चुभाने से दुःख क्यों होता है? सुई तो निमित्तमात्र है न ?

**उत्तर :** सुई चुभाने के काल में जीव की स्वयं की वर्तमान योग्यता भी दुःखरूप पर्याय उत्पन्न होने की होती है। सुई में से दुःख नहीं आता है। सुई में दुःख है ही कहाँ जो उसमें से दुःख आये ? सुई में दुःख होता तो डॉक्टरों को रुपया देकर हम सुई नहीं लगवाते। समय पर सुई ( इन्जेक्शन ) न लगे तो आकुलता होती है और सुई लगने पर रोगी संतोष की सांस लेता है। अतः सिद्ध है कि सुख-दुःख का कारण नहीं। सुख-दुःख तो जीव की तत्समय की योग्यता से ही होता है। सुई तो निमित्तमात्र है।

देह में एकत्व-ममत्वबुद्धि के कारण दुःख होता है। यदि किरायेदार हमारे निजी मकानी की दीवार में कील ठोकता है तो मकान में ममत्व होने के कारण हमें ऐसा लगता है - मानो उसने छाती में ही कील ठोकी हो ?

**प्रश्न ४८ :** जब पुद्गल परमाणुओं में ज्ञान भी नहीं है, शक्ति भी नहीं है; तो फिर ये जड़कर्म अपने आप जुड़कर कर्मरूप स्कन्ध कैसे बन सकते हैं और बिछुड़कर परमाणु रूप कैसे हो जाते हैं ? आत्मा के राग-द्वेष-मोह आदि भावों के अनुसार बंधने की व्यवस्था उन जड़ कर्मों में कैसे संभव है ?

“अनादिनिधन स्वभावों भिन्न भिन्न अपनी अपनी सूर्यदा सहित परिणमित होती हैं। कोई द्रव्य किसी भी अन्य द्रव्य के अधीन नहीं है।”

हमारा जीवन है किन्हीं पूर्वाग्रहों में पला  
कषायों से कुण्ठित और मिथ्यात्व से छला

- सुखी जीवन, पृष्ठ - ७-८

अपनी स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए यह उपर्युक्त सिद्धान्त सदैव स्मरणीय है।

न केवल एक मोक्षमार्गप्रकाशक; बल्कि समस्त आगम इसका साक्षी है कि निमित्त अकर्ता है।

**प्रश्न ४७ :** यदि निमित्त अकर्ता है तो सुई चुभाने से दुःख क्यों होता है? सुई तो निमित्तमात्र है न ?

**उत्तर :** सुई चुभाने के काल में जीव की स्वयं की वर्तमान योग्यता भी दुःखरूप पर्याय उत्पन्न होने की होती है। सुई में से दुःख नहीं आता है। सुई में दुःख है ही कहाँ जो उसमें से दुःख आये ? सुई में दुःख होता तो डॉक्टरों को रुपया देकर हम सुई नहीं लगवाते। समय पर सुई ( इन्जेक्शन ) न लगे तो आकुलता होती है और सुई लगने पर रोगी संतोष की सांस लेता है। अतः सिद्ध है कि सुख-दुःख का कारण नहीं। सुख-दुःख तो जीव की तत्समय की योग्यता से ही होता है। सुई तो निमित्तमात्र है।

देह में एकत्व-ममत्वबुद्धि के कारण दुःख होता है। यदि किरायेदार हमारे निजी मकानी की दीवार में कील ठोकता है तो मकान में ममत्व होने के कारण हमें ऐसा लगता है - मानो उसने छाती में ही कील ठोकी हो ?

**प्रश्न ४८ :** जब पुद्गल परमाणुओं में ज्ञान भी नहीं है, शक्ति भी नहीं है; तो फिर ये जड़कर्म अपने आप जुड़कर कर्मरूप स्कन्ध कैसे बन सकते हैं और बिछुड़कर परमाणु रूप कैसे हो जाते हैं ? आत्मा के राग-द्वेष-मोह आदि भावों के अनुसार बंधने की व्यवस्था उन जड़ कर्मों में कैसे संभव है ?

“पुद्गल परिणामी दरव, सदा परिणमे सोय।

तातै पुद्गल करम को, पुद्गल कर्ता होय ॥”

पुद्गलों को कर्म रूप होने में रागादि तो निमित्तमात्र हैं, वे पुद्गल कर्मरूप तो स्वयं अपनी तत्समय की योग्यता से ही परिणमते हैं। निमित्त है ही नहीं यह बात नहीं है। निमित्त हैं; परन्तु वे उपादान में कुछ करते ही नहीं हैं।

जो निमित्त कारणों को मानते ही नहीं हैं, वे तो अज्ञानी हैं ही; पर जो निमित्तों को परद्रव्यों का कर्ता मानते हैं, वे भी वस्तु स्वरूप से अनभिज्ञ हैं।

द्रव्य स्वयं ही अपनी अनन्त शक्ति रूप सम्पदा से परिपूर्ण हैं, इसलिए स्वयं ही छहकारक रूप होकर अपना कार्य करने के लिए समर्थ हैं। उसे बाह्य सामग्री कोई सहायता नहीं कर सकती। इसलिए केवलज्ञान प्राप्ति के इच्छुक भव्य आत्माओं को बाह्य सामग्री की अपेक्षा रखकर परतंत्र होना निरर्थक है।

निमित्तों की अकारकता को सिद्ध करते हुए प्रवचनसार गाथा ६७ के भावार्थ में लिखा है कि - “संसार या मोक्ष में आत्मा अपने आप सुखरूप परिणमित होता है, उसमें पाँचों इन्द्रियों के विषय अकिंचित्कर हैं। अज्ञानीजन विषयों को सुख का कारण मानकर व्यर्थ ही उनका आलम्बन करते हैं।”

“तत्त्वदृष्टि से देखा जाए तो राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य किंचित्मात्र भी दिखाई नहीं देता; क्योंकि सर्व द्रव्यों की उत्पत्ति अपने स्वभाव से ही होती हुई अन्तरंग में अत्यन्त स्पष्ट प्रकाशित होती है।

इस आत्मा में जो राग-द्वेष रूप दोषों की उत्पत्ति होती है, उसमें परद्रव्य का कोई दोष नहीं है, वहाँ तो स्वयं अपराधी ही यह अज्ञान फैलाता है। इस राग-द्वेष की उत्पत्ति में अपने अज्ञान का ही अपराध है। यदि अज्ञान का नाश हो जाये तो मैं तो ज्ञानस्वरूप ही हूँ।”

### कार्य-कारण सम्बन्ध : एक विश्लेषण

जो निमित्तों को परद्रव्य का कर्ता मानते हैं, उनसे आचार्य अमृतचन्द्र पूछते हैं - “जीव स्वयं परिणमित होते हुए पुद्गल द्रव्यों को कर्मभाव से परिणमित करता है या स्वयं अपरिणमित पुद्गलद्रव्यों को ?

जो स्वयं अपरिणमित हैं, उन्हें तो किसी भी शक्ति के द्वारा परिणमाया नहीं जा सकता तथा जो स्वयं परिणमित हो रहे हैं, उन्हें पर की सहायता की अपेक्षा नहीं होती।”

तात्पर्य यह है कि - जो द्रव्य व गुण अपरिणामी हैं, उन्हें तो कोई भी परिणमित नहीं कर सकता और जो पर्यायें परिणमनशील हैं, उन्हें कोई अन्य द्रव्य के सहयोग की अपेक्षा नहीं होती। स्वतः ही परिणमनशील वस्तु को कोई क्या परिणमित करसकेगा? वे तो स्वयं ही सतत् परिणमनशील हैं।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ - २५

२. भगवती आराधना मूल १६१०

३. सर्वार्थसिद्धि १/२०/८५/७

इसी संदर्भ में आचार्य अमृतचन्द्र ने और भी स्पष्टीकरण करते हुए आगे कहा है - “जो क्रोधादि रूप पौद्गलिक द्रव्यकर्म हैं वे स्वयं क्रोधादिभाव से अपरिणमित जीवों को क्रोधादिभाव से परिणमाते हैं या स्वयं उस रूप परिणमित हो रहे जीवों को परिणमाते हैं ?

स्वयं अपरिणमित को तो पर पदार्थों या दूसरे व्यक्ति के द्वारा परिणमित किया नहीं जा सकता; क्योंकि वस्तु में जो योग्यता या शक्ति स्वयं की न हो, उसे अन्य कोई उत्पन्न नहीं कर सकता और स्वयं परिणमित को तो पर की अपेक्षा ही नहीं होती; क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखतीं।

इसप्रकार दोनों ही दृष्टियों से परद्रव्य का अकर्तृत्व सिद्ध है।”

**प्रश्न ४९ :** पुद्गलकर्म के तीव्र उदय से जीवों में मोह-राग-द्वेष रूप विभाव परिणमन तो होता ही है न ?

जैसाकि निम्नांकित पद्य में स्पष्ट कहा है -

**“ज्यों-ज्यों पुद्गल वल करे, धरि-धरि कर्मज भेष।**

**राग-द्वेष को परिणमन, त्यों-त्यों होय विशेष।।”**

पुद्गलकर्म का जितना-जितना तीव्र उदय होता है, उतनी-उतनी बाहुल्यता से जीवों में राग-द्वेषरूप विभावरूप परिणाम होते हैं। इस कथन का और क्या अर्थ हो सकता है ?

**उत्तर :** अरे भाई ! तत्त्व से अनजान ही ऐसा कह सकते हैं कि - आत्मा में राग-द्वेष के परिणाम पुद्गल कर्मों के तीव्र उदय के अनुसार होते हैं। उक्त पद्य भी निमित्त के पक्षपाती, निमित्ताधीन दृष्टिवाले अज्ञानी की ओर से किया गया कथन है। कहा भी है -

**“कोई मूर्ख यों कहे, राग-द्वेष परिणाम।**

**पुद्गल की जोरावरी, बरते आतम राम।।**

१. समयसार गाथा ३१६ का भावार्थ एवं कलश ११७

२. समयसार, पृष्ठ-१३४-१३५

कोई-कोई मूढ़जन ऐसा कहते हैं कि आत्मा में राग-द्वेष के भाव पुद्गलकर्म की जोरावरी से होते हैं।”

इनसे कहते हैं कि -

**“इहि विधि जो विपरीत पख, गहै सद्गै कोई;**

**सो नर राग विरोध सौ, कबहूँ, भिन्न न होइ।**

**सुगुरु कहै जगमें रहै, पुगल संग सदीव;**

**सहज सुद्ध परिणमनिकौ, पुगल संग सदीव;**

**सहज सुद्ध परिणमनिकौ, अवसर लहै न जीव,**

**राग-विरोध मिथ्यात में समकित में सिवभाउ।”**

इसप्रकार कोई मनुष्य विपरीत पक्ष ग्रहण करके श्रद्धान करता है कि राग-विरोधरूप भावों से कभी भिन्न हो ही नहीं सकता। सद्गुरु कहते हैं कि - पुद्गल के संयोग से रागादि नहीं हैं, यदि हों तो जगत में पुद्गल का संग सदैव है तो जीव को सहज शुद्ध परिणाम करने का अवसर ही नहीं मिलेगा, इसलिए अपने ( शुद्ध या अशुद्ध ) चैतन्यपरिणाम में चेतनाराजा ही समर्थ है। राग-विरोधरूप परिणाम अपने मिथ्यात्वभाव में हैं और अपने सम्यक्त्वपरिणाम में शिवभाव अर्थात् ज्ञान-दर्शन सुख आदि उत्पन्न होते हैं।

इस संदर्भ में पण्डित प्रवर टोडरमलजी का कथन द्रष्टव्य है। वे लिखते हैं - “यदि कर्म स्वयं कर्ता होकर उद्यम से जीव के स्वभाव का घात करे, बाह्य सामग्री को मिलावे तब तो कर्म के चेतनपना भी चाहिए और बलवानपना भी चाहिए।”<sup>१</sup>

हम स्वयं सोचें - बिना जाने कर्म यह व्यवस्था कैसे कर सकेंगे कि जीवों को किस पुण्य-पाप के फल में कहाँ/किस गति में भेजना है ?

१. समयसार, पृष्ठ-१३४-१३५

२. समयसार गाथा ८०, ८१, ८२

कब/कैसे भेजना है ?

वास्तविकता यह है कि कर्मों में न तो ज्ञान ही है और न ऐसा बल ही है कि वे जीवों को बलात् सुखी-दुःखी कर सकें, उन्हें जीवन-मरण दे सकें या उनमें बलात् कोई परिणामन करा सकें।

**प्रश्न ५० :** यदि वस्तुस्थिति ऐसी है तो फिर आगम में स्थान-स्थान पर कर्मों को बलवान बताने वाले एवं कर्तृत्व पोषक ऐसे भ्रममूलक कथन किये ही क्यों हैं? क्या अपेक्षा है इन निम्नांकित आगम कथनों की ?

(क) असाता वेदनीय कर्म के उदय में औषधियाँ भी सामर्थ्यहीन होती देखी जाती हैं ?<sup>२</sup>

(ख) प्रबल श्रुतावरण कर्म के उदय में श्रुतज्ञान का अभाव हो जाता है।<sup>३</sup>

(ग) 'कर्म बड़े बलवान जगत में पेरत हैं' इस भजन में तो प्रथमानुयोग के आधार पर कर्म की बलवत्ता के अनेक उदाहरण दिये ही हैं -

जैसे कि - पवनंजय की पत्नी रानी अंजना, सती सीता, द्रौपदी, पूँचों पाण्डव, सुकौशल, सुकुमाल, गजकुमार आदि उपसर्गजयी मुनिराज तथा भगवान आदिनाथ, भगवान पार्श्वनाथ तक अपनी मुनिदशा में विघ्न बाधाओं एवं उपसर्गों से नहीं बच सके।

कृपया इन सभी कथनों का स्पष्टीकरण करें।

**उत्तर :** जहाँ तक जीव की उपादान की निर्बलता है, वहाँ तक कर्म के निमित्त का जोर चलता प्रतीत होता है। "अज्ञानी कर्म प्रकृतियों के स्वभाव में स्थित रहता हुआ कर्मफल जो वेदता है। अज्ञानी को शुद्धात्मा का ज्ञान नहीं है, इसलिए जो कर्म उदय में आता है, उसी को वह निजरूप जानकर भोगाता है।"<sup>४</sup>

**उत्तर :** इस जीव को कर्मों ने दुःख नहीं दिया, यह दुःख तो इस जीव ने अपने को भूलकर स्वयं ही उत्पन्न किया है। कहा भी है -

**“अपनी सुधि भूल आप दुःख उपजायो।  
ज्यों शुक नभचाल विसरि नलिनी लटकायो ॥”**

जिसप्रकार तोता आकाश में उड़ने की चाल भूलकर स्वयं ही नलिनी को जकड़ कर पकड़ लेता है और स्वयं ही बन्धन में पड़ जाता है।

वह चाहे तो उड़ सकता है; परन्तु नहीं उड़ता। इसमें तोते की ही भूल है; क्योंकि उसे नलिनी ने अपनी अधीन किया नहीं है, वह स्वयं ही उसके अधीन हो गया है। उसीप्रकार जीवों को कर्मों ने पराधीन नहीं किया है, ये जीव ही अपनी सुध-बुध खोकर कर्मों के वशीभूत हो रहे हैं।

समयसार गाथा ७३ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने समुद्र की भँवर में फँसे जहाज का दृष्टान्त देकर भी यही कहा है। वहाँ कहा है कि - “समस्त परद्रव्य के निमित्त से विशेषरूप चेतन में होती हुई चंचल कलोलों के निरोधों से अपने चैतन्य स्वरूप को ही अनुभव करता हुआ, अपने ही अज्ञान से आत्मा में उत्पन्न होते हुए क्रोधादिभावों का क्षय करता है।”<sup>५</sup>

भावार्थ इसप्रकार है कि “जैसे समुद्र के आवर्त ने बहुत समय से जहाज को पकड़ रखा है और जब वह आवर्त शमन हो जाता है, तब वह जहाज को छोड़ देता है, इसीप्रकार आत्मा विकल्पों के आवर्त को शमन करता हुआ आस्रवों को छोड़ देता है।”<sup>६</sup>

“यद्यपि जीव के परिणाम और पुद्गल के परिणाम के अन्योन्य (परस्पर) निमित्तमात्रता है तथापि उनके कर्ताकर्मपना नहीं है ऐसा अब कहते हैं -

**जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति।  
पोग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि ॥८०॥  
णा वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।  
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि ॥८१॥  
एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।**



**पोगलकम्मकदानं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥८२॥**

जीव के परिणाम के और पुद्गल के परिणाम के परस्पर मात्र निमित्त-नैमित्तिकपना है तो भी परस्पर कर्ताकर्मभाव नहीं है। पर से निमित्त से जो अपने भाव हुए उनका कर्ता तो जीव को अज्ञान दशा में कदाचित् कह भी सकते हैं, परन्तु जीव पर भाव का कर्ता कदापि नहीं है।<sup>२१</sup>

**प्रश्न ५१ :** यदि ऐसा है तो फिर आगम में कर्मों को (निमित्त) कारण कहा ही क्यों है ?

**उत्तर :** इस लोक में कर्मों के साथ जीवों का एक ऐसा सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध है कि जब पुद्गल कर्म का उदय हो, तब जीव यदि अपना सम्यक् पुरुषार्थ न करे तो अपनी ही असावधानी के कारण स्वतः ही अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप स्वचतुष्टय से विकारी भावरूप परिणमित होता है। परन्तु उस विकार के अनुकूल होने से कर्म के उदय पर आरोप आता है कि कर्म के उदय से विकार हुआ है।

वस्तुतः कर्म के उदय से जीव की अवस्था विकारी नहीं होती। यदि कर्म के कारण विकार हो तब तो जीव को कभी मोक्ष होगा ही नहीं; क्योंकि संसार अवस्था में कर्म का उदय तो त्रिकाल विद्यमान रहता ही है।

आत्मा अपने द्वारा कृत मोह-राग-द्वेष आदि विकारी भावों का कर्तृत्व कर्मों पर थोपकर दोषमुक्त नहीं हो सकता; किन्तु निमित्ताधीन दृष्टिवालों की वृत्ति स्व-दोष दर्शन की ओर न जाकर सदैव पर में दोषारोपण करने की ही होती है।

यदि निमित्त पर में ( उपादान में ) कुछ भी करने में समर्थ हो तो अनेक ऐसे प्रश्न उपस्थित होंगे, जिनका समाधान करना भी संभव नहीं है। जैसे कि

नरकों में जो वेदना, जातिस्मरणादि को सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में निमित्त कहा है, सो वेदना तो सभी नारकियों को हर समय होती है,

सबको सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में निमित्त कहा है, सो वेदना तो सभी नारकियों को हर समय है, सबको सम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता ? क्षायिक सम्यक्त्व केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में होता है, तो फिर समोशरण में स्थित जीवों को क्षायिक सम्यक्त्व क्यों नहीं होता ?

मंखलि गोसाल ६६ दिन तक भगवान महावीर के समोशरण में जैसे समर्थ निमित्त के सान्निध्य में रहा; फिर वह वहाँ से क्रुद्ध होकर क्यों चला गया? और गृहीत मिथ्यादृष्टि होकर मिथ्या मत का प्रचारक कैसे बन गया ?

एक ओर सीताजी की अग्निपरीक्षा में समान्य शील के प्रभाव से अग्नि का जल हो गया और दूसरी ओर अठारह हजार प्रकार के शील का पालन करनेवाले भावलिंगी सन्तों ( पाँचों पाण्डवों ) के अग्निमय लोहपिण्ड ठंडे क्यों नहीं हुए ? वे ध्यान में रहते हुए भी क्यों जल गये ? आदिनाथ भगवान जैसा समर्थ निमित्त पाकर भी मारीचि मिथ्यादृष्टि कैसे बना रहा ? वह क्यों नहीं सुलटा और आदिनाथ ने उसे क्यों नहीं समझ पाया ?

यदि उपर्युक्त सभी बातों पर शान्ति से विचार किया जाय, सहज कारण-कार्य व्यवस्था को निमित्त-उपादान के संदर्भ में समझने का प्रयास किया जाय तो दृष्टि में निर्मलता आ सकती है, रागद्वेषोत्पादक निमित्ताधीन दृष्टि समाप्त होकर स्वावलम्बन द्वारा साम्यभाव जाग्रत हो सकता है।

समयसार कलश में ५१ से ५४ तक कार्य-कारण की अभिन्नता का स्पष्ट उल्लेख है। वहाँ कहा है कि - जहाँ व्याप्य-व्यापक भाव का सद्भाव होता है, वहीं कर्ता-कर्म संबंध बनता है, अतः परद्रव्यरूप निमित्त कार्य का कर्ता नहीं हो सकता।

न्यायदीपिका में आया है कि – उपादान की तत्समय की योग्यता ही कार्य का समर्थ कारण है।

**प्रश्न ५२ :** जब उपादान अपना कार्य स्वयं कर लेता है तो निमित्त के अनुसार कार्य होता है – ऐसा क्यों कहा जाता है ?

**उत्तर :** निमित्तों के अनुसार कार्य नहीं होता; अतः कार्य सम्पन्न होने में तो निमित्तों की आवश्यकता बिल्कुल नहीं है, किन्तु कार्य के अनुकूल जो पर द्रव्य उपस्थित होते हैं; उन्हें निमित्त कहा जाता है।

जब किसी प्रियजन का अनिष्ट होते देख रागी को राग और वैरागी को वैराग्य उत्पन्न होता है; तब उस अनिष्ट घटना को रागी के राग और वैरागी के वैराग्य का निमित्त कहा जाता है। यदि निमित्त के अनुसार ही कार्य प्रवर्तित हो तो उसे देखकर प्रत्येक को राग या वैराग्य ही उत्पन्न होना चाहिए।

आचार्य कल्प पण्डित प्रवर टोडरमलजी कहते हैं – “परद्रव्य कोई जबरन ( बलात् ) भावों को बिगाड़ता नहीं है। जब जीव अपने भाव बिगाड़े, तब वह भीबाह्य निमित्त है तथा इसके निमित्त बिना भी भाव बिगाड़ते हैं, इसलिए नियमरूप से निमित्त भी नहीं है – इसप्रकार परद्रव्य का दोष देखना तो मात्र मिथ्याभाव है।”

न तो निमित्त उपादान में कुछ बलात् करता है और न ही उपादान किन्हीं निमित्तों का बलात् लाता या मिलाता है – दोनों का सहज संबंध होता है।

इसप्रकार उपादान और निमित्त का यथार्थरूप समझने से मिथ्याभ्रान्ति दूर हो जाती है और पराश्रय के कारण उत्पन्न दीनता-हीनता का भाव समाप्त हो जाता है। द्रव्यस्वभाव की स्वतंत्रता का भान होने से स्वालम्बन का भाव जाग्रत होता है। परपदार्थों के सहयोग की अभिलाषा से होनेवाली व्यग्रता का अभाव होकर शान्ति प्राप्त होती है।

कर्मोदय के निमित्त से आत्मा में होनेवाले औदयिक भावों को निमित्त की अपेक्षा नैमित्तिक कहते हैं एवं कर्मोदय को निमित्त कहते हैं। इन दोनों के संबंध को ही निमित्त-नैमित्तिक कहते हैं।

कतिपय उदाहरण इसप्रकार हैं –

जितने अंश में ज्ञानावरण कर्म का आवरण होगा, उतने ही अंश में जीव का ज्ञान नियम से ढका हुआ होगा। यहाँ ज्ञानावरण कर्म का आवरण निमित्त है और तदनुकूल ज्ञान का हीनाधिक होना नैमित्तिक है।

जितने अंश में मोहनीय कर्म का उदय होगा, उतने ही अंश में आत्मा का चारित्रगुण अपनी वर्तमान योग्यता से नियम से विकारी होगा। यहाँ मोहनीय कर्म निमित्त है और तद्रूप चारित्रगुण की विकारी अवस्था नैमित्तिक है।

जिस गतिनामकर्म का उदय होगा, उसके अनुकूल आत्मा अपनी योग्यता से उस गतिरूप अवस्था धारण करता ही है। यहाँ गतिनामकर्म निमित्त है और तद्रूप आत्मा का उस गतिरूप होना नैमित्तिक है। जितने अंश में रागादिक भाव आत्मा में होंगे, उतने अंश में कार्माणवर्गणा अपनी तत्समय की योग्यता से कर्मरूप अवस्था धारण करेगी। आत्मा के रागादिक भाव निमित्त कारण है और कार्माणवर्गणा को कर्मरूप अवस्था होना नैमित्तिक कार्य है।

जितने अंश में आत्मा के प्रदेश हलन-चलन करेंगे, उतने ही अंश में शरीर के परमाणु हलन-चलन करेंगे। आत्मा के प्रदेश का हलन-चलन करना निमित्त कारण और तद्रूप शरीर के परमाणुओं का क्रियाशील होना नैमित्तिक कार्य है। □

**प्रश्न ५३ :** सद्निमित्तों को मिलाना एवं बुरे निमित्तों को हटाना तो पड़ेगा न ? यदि सद्निमित्तों को मिलायेंगे नहीं तो वे मिलेंगे कैसे ?

**उत्तर :** भाई ! जब प्रत्येक द्रव्य प्रतिसमय स्वयं परिणमित हो ही रहा है और निमित्त भी सर्वत्र सदा उपस्थित ही हैं तो मिलाने की समस्या कैसी ? ज्ञानी निमित्तों को मिलाने की व्यग्रता से परेशान नहीं होते; क्योंकि उन्हें ज्ञात है कि जब उपादान में कार्य सम्पन्न होने की योग्यता आती है तब निमित्त आकाश से भी उतर आते हैं। जब जीव और पुद्गल गमन करते हैं तो उनकी गति में निमित्त धर्मद्रव्य सदा उपस्थित रहता ही है। इसीप्रकार जब वे गतिपूर्वक ठहरते हैं तो अधर्म द्रव्य निमित्त हो जाता है। यद्यपि धर्म और अधर्म दोनों द्रव्य सदा ही विद्यमान है, तथापि जब जीव और पुद्गल चलें तो धर्मद्रव्य निमित्त होता है, अधर्मद्रव्य नहीं; क्योंकि अधर्मद्रव्य स्थिति में अनुकूल है; गति में नहीं।

निमित्ताधीन दृष्टि से सबसे बड़ी हानि यह होती है कि अज्ञानी जीव सुख प्राप्ति रूप कार्य की सिद्धि के लिए निमित्तों की ओर देखता रहता है, उन्हीं को जुटाने में सक्रिय रहता है, सहज भाव से जो निमित्त जुट जाते हैं और कुछ कार्य उसकी भावना के अनुकूल हो जाता है तो कर्तृत्व के अभिमान में फूल जाता है। इसप्रकार यह अमूल्य मनुष्यभव व्यर्थ में चला जाता है।

यदि निमित्त-नैमित्तिकभाव एवं उपादान-उपादेय भाव का सच्चा ज्ञान हो जावे तो दृष्टि सहज ही निमित्तों पर से हटकर स्वभावसन्मुख होती है, स्वाधीनता का भाव जाग्रत होता है, अनुकूल निमित्तों को जुटाने की व्याकुलता समाप्त हो जाती है, सहज ही आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ जाग्रत होता है।

**प्रश्न ५४ :** कुछ लोग कहते हैं कि - यदि आत्मा का हित दृष्टि के स्वभाव-सन्मुख होने में ही है तो फिर हम निमित्त-नैमित्तिक के झगड़े में पड़े ही क्यों ? इन्हें न जाने तो क्या हानि है ? और इनके जानने से लाभ क्या है ?

**उत्तर :** भाई, बात यह है कि यदि तुम इन्हें जाने बिना ही स्वभाव सन्मुख हो सकते हो तो अवश्य हो जाओ; परन्तु यदि इस महत्त्वपूर्ण विषय को

जानने-समझने से जी चुराकर सीधे-स्वभाव सन्मुख होने की बातें बनाकर इनसे पीछा छुड़ाना चाहते हो तो तुम अपनी बहुत बड़ी हानि कर रहे हो।

भाई ! जब तक व्यक्ति यह मानता रहता है कि - एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का भला-बुरा कर सकता है, तब तक वह परोन्मुख ही रहता है। परोन्मुखता समाप्त करने के लिए इस बात का पक्का निर्णय होना ही चाहिए कि - एक द्रव्य का हित-अहित दूसरे के हाथ में रंचमात्र भी नहीं है। यह समझना ही उपादान-उपादेय और निमित्त-नैमित्तिक संबंध का प्रयोजन है; क्योंकि निमित्त परद्रव्य ही होता है। अतः चाहे निमित्ताधीन कहो, चाहे पराधीन कहो एक ही बात है।

भाई, बात यह है कि कार्योत्पत्ति में उपादान और निमित्त दोनों ही कारण होते हैं; परन्तु जिनकी दृष्टि निमित्ताधीन है, उन्हीं सभी कार्य निमित्तों से ही होते दिखाई देते हैं, जबकि स्वभावदृष्टि वालों को स्पष्ट भान रहता है कि - कार्यरूप तो उपादान ही परिणमित हुआ है।

पर, अधिकांश जगत तो निमित्ताधीन दृष्टिवाला ही है। जिनवाणी में भी उपचार से निमित्तों को कर्ता कहा जाता है; अतः ध्यान रखने योग्य बात यह है कि यद्यपि निमित्तों को कर्ता कहा जाता है; परन्तु निमित्तों को कर्ता कहना मात्र व्यवहार है और निमित्त को कर्ता मान लेना मिथ्यात्व है। जिनवाणी के कथन में इस मर्म और शैली से अनभिज्ञ जगत को निमित्त ही वास्तविक कर्ता प्रतिभासित होता है। जबकि वस्तुस्थिति इससे भिन्न है; क्योंकि जो गाली क्रोध का निमित्त कही जाती है, उसी गाली को सुनकर किसी को क्रोध आता है, किसी को नहीं आता है अथवा एक ही व्यक्ति को उसी गाली को सुनकर कभी क्रोध आता है और कभी नहीं आता है। कभी कम आता है और कभी अधिक आता है। समधियाने में या ससुराल में गालियाँ सुनकर क्रोध न आकर आनन्द आता है। इससे

यही सिद्ध होता है कि गालियाँ नियम से क्रोध को उत्पन्न कर ही देंगी – यह आवश्यक नहीं, किन्तु जब उपादान की जैसी योग्यता हो, तब वह अपने अनुसार ही परिणमन करता है, उस समय जो भी अनुकूल परद्रव्य का परिणमन दिखाई देता हो, उस पर निमित्त का आरोप कर दिया जाता है।

अनेक व्यक्ति धनादि संग्रह एवं आरोग्य लाभादि के लिए एक जैसे निमित्त जुटाते देखे जाते हैं, तथापि सबको एक सी सफलता प्राप्त नहीं होती। कोई असफल भी हो जाता है। अतः यही सिद्ध होता है कि वस्तुतः कार्य तो उपादान के अनुसार ही होता है, निमित्तों के अनुसार नहीं।

सारांश यह है कि निमित्त सदा उपेक्षणीय हैं, हेय हैं। आश्रय करने लायक नहीं है, अतः उपादेय नहीं है।

‘स्व की अपेक्षा और पर की अपेक्षा से ही स्वात्मोपलब्धि संभव है। आत्मपोलब्धि का अन्य कोई उपाय नहीं है।

ज्ञानस्वभावी ध्रुव उपादानस्वरूप मंगलमय निज आत्मा का आश्रय कर ही निष्कर्म अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है, निमित्तों से नहीं। ऐसा समझकर पराश्रय बुद्धि छोड़ो। उपादान-निमित्त समझने का यही प्रयोजन है।

- 
- 

१. मो.मा. प्रकाशक, पृष्ठ - २५  
 २. आत्मानुशासन गाथा १० की टीका  
 ३. ( प्रवचनसार गाथा २६ की टीका )

## • निमित्त-नैमित्तिकता : एक सहज सम्बन्ध

वस्तुतः प्रत्येक द्रव्य अपनी ही निज सहज शक्ति से ध्रुव है और अपनी ही समय-समय की तात्कालिक योग्यता से प्रति समय परिणमन कर रहा है; क्योंकि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य प्रत्येक द्रव्य का मूल स्वभाव है।

वस्तु के मूल स्वभाव को परिणमन के लिए पर की अपेक्षा नहीं होती। वह पर से सर्वथा निरपेक्ष होता है।

हाँ, वस्तु या द्रव्य के परिणमन के काल में परवस्तु निमित्तरूप में उपस्थित अवश्य रहती है और वे निमित्त नियम से उपादान के अनुकूल ही होते हैं; परन्तु वे निमित्त उपादान में करते कुछ भी नहीं है। ऐसा ही दोनों का सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।

जिनागम का सम्पूर्ण कथन नयों की भाषा में निबद्ध है और नय निरपेक्ष हो ही नहीं सकते। निरपेक्ष नय तो नियम से मिथ्या ही होते हैं और सापेक्ष नय सम्यक् व सार्थक होते हैं। **“निरपेक्षा नया मिथ्या, सापेक्षा वस्तुतेऽर्थकृत।”** – ऐसा आगम का वचन है।

इसप्रकार के कथनों में पर की अपेक्षा तो आती ही है। ऐसे कथनों को देखकर हमें यह भ्रम नहीं पालना चाहिए कि – परिणमन में भी पर की अपेक्षा होती है। वस्तुतः वस्तु का परिणमन तो सर्वथा निरपेक्ष ही होता है।

भैया भगवती दास ने इस भाव को अपनी काव्यमय भाषा में निमित्त-उपादान संवाद में इसप्रकार व्यक्त किया है।

**“उपादान निज शक्ति है, जिय को भूल स्वभाव।  
 है निमित्त पर योग तैं, बन्यो अनादि बनाव ॥”**

अपने-अपने स्वचतुष्टय से अपनी-अपनी योग्यतानुसार एक ही साथ

१. समयसार गाथा - ८३ की टीका  
 २. समयसार गाथा - ३ की टीका

उपादान का कार्य के अनुरूप परिणामन होता देखकर स्वतंत्र कार्य-कारणों संबंधों से अनजान जीवों को ऐसा मिथ्या प्रतिभास होता है कि उपादान के कार्य में निमित्त ने कुछ किया अवश्य है।

**प्रश्न ५५ :** यदि निमित्त उपादान में कुछ नहीं करते होते तो अनुकूल निमित्त की अनुपस्थिति में अभी तक वैसा परिणामन क्यों नहीं हुआ, जैसा कि तदनुकूल निमित्त मिलने पर देखा जा रहा है? निमित्तों को सर्वथा अकर्ता कैसे कह सकते हैं?

**उत्तर :** निमित्तों के अकर्तृत्व की बात ऐसे समझ में नहीं आती। इसके लिए जिनागम में आये भिन्न-भिन्न द्रव्यों के सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध के स्वरूप को समझा होगा। इसके समझे बिना और इस पर श्रद्धा हुए बिना पर के कर्तृत्व की भ्रान्ति दूर होना संभव नहीं है; क्योंकि ये संबंध अत्यन्त घने हैं!

**प्रश्न ५६ :** सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध से क्या तात्पर्य है? और यह किन-किन द्रव्यों के बीच होता है। विस्तार से उदाहरण देकर समझाइये न?

**उत्तर :** जब उपादान स्वयं अपने स्वचतुष्टय से कार्यरूप परिणामित होता है, तब भावरूप या अभावरूप जो परद्रव्य उसके अनुकूल होता है, वह परद्रव्य निमित्त है, उसकी मुख्यता से कथन करने पर उसी उपादान के स्वभाव या विभावरूप परिणत हुए कार्य को नैमित्तिक कहते हैं।

यद्यपि यह संबंध दोनों द्रव्यों की वर्तमान पर्यायों के बीच होता है; परन्तु परतन्त्रता का द्योतक नहीं है। संक्षेप में कहें तो भिन्न-भिन्न दो पदार्थों के स्वतन्त्र परिणामन के अनुरूप व अनुकूल दृष्टि से देखना निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।

निमित्त-नैमित्तिक एक सहज संयोग है। सूर्योदय होता है, कमल के फूल खिलने लगते हैं, कुमुदिनी के फूलों की पंखुड़ियाँ बंद हो जाती हैं। रात्रि में चन्द्रोदय होता है, कुमुदिनी के फूल खिल जाते हैं, कमल बंद हो जाते हैं।

१. हिन्दी प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ २४१

इसीप्रकार मोहकर्म के उदय का निमित्त पाकर आत्मा स्वयं ही अपनी उपदान की योग्यता से सहज ही मोह-राग-द्वेष रूप परिणामित होता है और कार्माण वर्गणाएँ भी जीवों के रागादि भावों का निमित्त पाकर अपनी उपादानगत योग्यता से कर्मरूप परिणामित होती हैं। दोनों में सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध हैं।

इस संदर्भ में पण्डित टोडरमलजी के विचार द्रष्टव्य हैं। वे लिखते हैं कि “यदि कर्म स्वयं कर्ता होकर उद्यम से जीव का स्वभाव का घात करे, बाह्य सामग्री को मिलावे, तब तो कर्म के चेतनपना भी चाहिए और बलवानपना भी चाहिए; सो तो है ही नहीं। सहज ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। जब उनके कर्मों का उदयकाल हो, उस काल में आत्मा स्वयं ही स्वभावरूप परिणामन नहीं करता, उसका विभावरूप परिणामन होता है। जिसप्रकार सूर्य के उदय के काल में चकवा-चकवियों का संयोग रहता है, रात्रि में वियोग हो जाता है वहाँ रात्रि में किसी ने द्वेषबुद्धि से बलजबरी करके अलग नहीं किये हैं, दिन में किसी ने करुणाबुद्धि से मिलाये नहीं हैं; सूर्योदय का निमित्त पाकर स्वयं ही मिलते हैं और सूर्यास्त का निमित्त पाकर स्वयं में ही बिछुड़ जाते हैं। ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक बन रहा है। इसीप्रकार कर्म का भी निमित्त-नैमित्तिक भाव जानना।<sup>१</sup>”

इसप्रकार स्पष्ट है कि निमित्त-नैमित्तिक संबंध लोक की सहज परिणति का सहज अंग है। न तो निमित्त-उपादान में बलात् कुछ करता है और न उपादान ही किन्हीं निमित्तों को बलात् लाता या मिलाता है।

वस्तुतः बात तो यह है कि किसी वस्तु विशेष का नाम तो निमित्त या उपादान है ही नहीं, प्रत्येक वस्तु स्वयं उपादानरूप होती है और कार्य के अनुकूल पर पदार्थों को उनका निमित्त कहा जाता है। जैसे कि -

“सम्यग्ज्ञानी को उपदेश निमित्त और सम्यग्दर्शन नैमित्तिक है।<sup>२</sup>”

“लोकालोक का रूप समस्त ज्ञेयपदार्थ निमित्त और सकल ज्ञेयों का ज्ञायक केवलज्ञान नैमित्तिक है।<sup>३</sup>”

कर्मों का अभाव निमित्त और सिद्ध दशा नैमित्तिक।<sup>१</sup>”

उपर्युक्त कथनों में युगलों का सहज कारण-कार्य संबंध है। दोनों एक दूसरे से अप्रभावित रहकर सहज निमित्त-नैमित्तिक भाव से रहते हैं तथा दोनों स्वयं अपने-अपने लिए उपादान स्वरूप भी है।

यह परिणमनशील विश्व अनादिकाल से है और अनन्तकाल तक रहने वाला है। इसतरह यह विश्व परिणमनशील होकर भी अनादि-अनन्त है, स्थिर है तथा स्थिर होकर भी प्रतिसमय बदल रहा है। विश्व की यह स्थिरता और परिणमनशीलता सहज है। किसी भी द्रव्य या उसके गुणों को अपने परिणमन करने में या स्थिर रहने में परद्रव्य के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है। ये सभी द्रव्य एकसाथ रहकर भी जुड़े-जुड़े हैं।

उक्त संदर्भ में आचार्य अमृतचन्द्र का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है -

“वे सब पदार्थ ( जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ) अपने द्रव्य स्वभाव में अन्तर्मग्न रहते हुए अपने अनन्तधर्मों के चक्र ( समूह ) को चुम्बन करते हैं, स्पर्श करते हैं; तथापि वे अनन्त गुण-धर्म परस्पर एक-दूसरे का स्पर्श नहीं करते। यद्यपि वे अत्यन्त निकट एक क्षेत्रावगाहरूप से तिष्ठ रहे हैं, तथापि सदाकाल अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते। पररूप परिणमन न करने से उनकी अनन्त व्यक्तित्ता नष्ट नहीं होती; इसलिए वे टंकोत्कीर्ण की भांति ( शाश्वत ) स्थिर रहते हैं और समस्त विरुद्धकार्य तथा अविरुद्धकार्य दोनों की हेतुता से वे सदा विश्व का उपकार करते हैं, टिकाये रखते हैं।<sup>२</sup>”

इसप्रकार हम देखते हैं कि जब प्रत्येक द्रव्य प्रतिसमय परिणमन कर रहा है, अपने परिणमन कार्य में व्यस्त है; तब पर में कुछ करने का अवकाश ही कहाँ रह जाता है ? हाँ, यह बात अवश्य है कि जब कोई द्रव्य स्वयं परिणमन करता है, तब परद्रव्यों का तदनुकूल परिणमन निमित्त

१. कलश २२ सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार

कहा जाता है।

जैसे सूर्यकान्तमणि सूर्य बिना अग्निरूप परिणमित नहीं होता। उसके अग्निरूप परिणमन में सूर्य का बिम्ब निमित्त रूप में उपस्थित रहता है; वैसे ही आत्मा परद्रव्य बिना रागादि रूप परिणमित नहीं होता। उसके रागरूप परिणमन में परद्रव्य का संग निमित्त रूप से उपस्थित रहता ही है। ऐसा ही दोनों का परस्पर स्वतंत्र सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।

समयसार के बन्ध अधिकार की गाथा २७८-२७९ एवं उनके भावार्थ पर हुए स्वामीजी के प्रवचन मूलतः द्रष्टव्य है।<sup>१</sup> उस प्रवचन का संक्षिप्त सार इसप्रकार है -

जिसप्रकार निर्मल स्वभाववाला स्फटिक मणि अकेले अपने कारण ही लालिमा आदि रूप नहीं होता; किन्तु परद्रव्य का संसर्ग होने पर अर्थात् लाल-पीले फूलों के संसर्ग होने पर उसमें लाल-पीली झाँई होती है तथा उस स्फटिक में जो लाल-पीली झाँई पड़ती है, वह अकेले लाल-पीले फूलों के कारण भी नहीं पड़ती है; किन्तु स्फटिक में अपनी तत्समय की योग्यता भी कारण है।

यदि वह स्फटिक की झाँई मात्र लाल-पीले फूलों के संसर्ग से हुई हो तो उन्हीं लाल-पीले फूलों के संसर्ग से साधारण लकड़ी में भी लाल-पीली झाँई पड़नी चाहिए। पर, ऐसा तो होता नहीं है; क्योंकि लकड़ी की वैसी योग्यता नहीं है। अतः स्पष्ट है कि लाल-पीले रूप होना स्फटिक की ही अपनी पर्यायगत योग्यता है।

इसीप्रकार आत्मा भी स्वयं पर्यायरूप से बदलने के स्वभाववाला होते हुए भी शुद्ध स्वभावपने से, उसमें रागादि विकाररूप होने का कारणपना नहीं होने के कारण, स्वयं के अपने कारण विकार रूप नहीं परिणमता। किन्तु अन्तरंग निमित्त द्रव्यकर्म का उदय आदि तथा बाह्य निमित्त शरीरादि परद्रव्य का संसर्ग होने पर एवं अपनी तत्समय की

योग्यता के कारण ही वह रागादि रूप परिणमता है।

ऐसा ही वस्तु का सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। इसी बात के स्पष्टीकरण में और भी कहा है - निमित्त होता तो अवश्य है; किन्तु निमित्त पर में - उपादान में कुछ करता नहीं है।

जिसप्रकार अग्निरूप निमित्त ईंधन को जलाने में निमित्त तो है, पर कर्ता नहीं। ईंधन में स्वयं जलने की योग्यता न हो तो अग्नि उसे नहीं जला सकती। यदि अकेले अग्नि जलाने का कार्य करने में समर्थ हो तो अभ्रक को भी जला देना चाहिए।

ठीक इसीप्रकार शुद्ध आत्मा का आश्रय होने पर दृष्टि, ज्ञान व रमणता में व्यवहार का राग निमित्त होता है; परन्तु उस निमित्त या राग ने यहाँ निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति में कुछ किया ही नहीं है। उपादान में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप कार्य अपनी उपादानगत योग्यता से होता है और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु उसमें निमित्त होते अवश्य हैं, परन्तु वे उसमें कुछ करते नहीं हैं। ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।

निमित्त का यथार्थ ज्ञान कराने के लिए यह कहा जा रहा है कि - भगवान आत्मा निमित्तकारण के अभाव में अकेला स्वयं राग-द्वेष रूप परिणमन नहीं करता; किन्तु आत्मा जब अपने अशुद्ध उपादान से स्वयं रागरूप परिणमता है, तब कर्म का उदय नियम से निमित्त होता ही है - अतः व्यवहार से निमित्त की मुख्यता से यह कहा जाता है कि - आत्मा परद्रव्य के द्वारा ही रागादिरूप परिणमता है।

वस्तुतः देखा जाय तो उससमय जीव को रागादिरूप अवस्था होने का स्वयं का जन्मक्षण है। परद्रव्य तो फिर भी निमित्तमात्र ही है। पर ने आत्मा का रागादिरूप परिणमन किया नहीं है।

इस सन्दर्भ में समयसार कलश १७५-१७६ की पाण्डे राजमलजी

की टीका द्रष्टव्य है। जिनका भाव इसप्रकार है -

यह वस्तु का स्वरूप सर्वकाल प्रगट है कि द्रव्य के परिणाम या परिणमन के दो कारण हैं। एक - उपादान कारण व दूसरा - निमित्त कारण।

उपादान तो द्रव्य में अन्तर्गर्भित अपनी पर्यायरूप परिणमन शक्ति ही है तथा निमित्त कारण परद्रव्य का संयोग है जिसकी अनुकूलता में आत्मद्रव्य अपनी अन्तर्गर्भित परिणमन शक्ति से अपनी पर्यायरूप परिणमित होता है।

जीवद्रव्य के राग-द्वेष-मोह रूप अशुद्ध परिणामों का उपादान कारण तो जीवद्रव्य में अन्तर्गर्भित विभावरूप अशुद्ध परिणाम शक्ति है तथा निमित्त कारण दर्शनमोह व चारित्रमोह कर्मरूप से बंधे हुए पुद्गलकर्मों का उदय है।

यद्यपि मोहकर्म रूप द्रव्यकर्म का उदय उन कर्म परमाणुओं के साथ ही व्याप्य-व्यापक रूप है, जीवद्रव्य के साथ व्याप्य-व्यापक नहीं है। तथापि मोहकर्म का उदय होने पर जीवद्रव्य स्वतः अपने विभाव परिणाम रूप परिणमता है - ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है।

जैसे कि - स्फटिकमणि जो लाल, पीले, काले आदि अनेक रूप परिणमता है, उसका उपादान कारण तो स्फटिकमणि के अन्तर्गर्भित नानावर्णरूप परिणमन शक्ति ही है तथा निमित्त बाह्य नाना वर्णों के पुद्गलों का संयोग है।

ज्ञानी ऐसे वस्तुस्वरूप को जानता है, अतः उसके अशुद्ध रागादि परिणामों का स्वामित्व नहीं है, इसकारण वह पर का कर्ता नहीं है।

इस उपयुक्त कथन से जहाँ एक ओर यह स्पष्ट होता है कि परद्रव्य के सान्निध्य में ही आत्मा रागरूप परिणमन करता है, वहीं दूसरी ओर यह भी उतना ही अकाट्य सत्य है कि आत्मद्रव्य का विभावरूप परिणमन परद्रव्य के आधीन नहीं है।

इस बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि - ' जो राग की उत्पत्ति में परद्रव्य का ही निमित्तत्व मानते हैं, वे शुद्धज्ञान से

रहित हैं, अंध हैं। ऐसे जीव मोह नदी को पार नहीं कर सकते।<sup>१</sup>

वस्तुतः प्रत्येक द्रव्य का अपनी पर्यायों से ही तादात्म्य होता है। जब अन्य द्रव्य की पर्यायों के साथ जीव का तादात्म्य सम्बन्ध है ही नहीं तो फिर जीवद्रव्य का पुद्गलद्रव्य या अन्य जीवद्रव्य की पर्यायों के साथ तादात्म्य कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता है। तादात्म्य सम्बन्ध या अन्तर्व्यापक सम्बन्ध के अभाव में कर्ता-कर्म सम्बन्ध भी कैसे हो सकता है, नहीं हो सकता।

आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं - “जो पर्याय से तन्मय होकर परिणमता है, वही द्रव्य उसका कर्ता है और जो परिवर्तन हुआ है, वही उस द्रव्य का कर्म है। उसमें जो परिणति हुई है, वही क्रिया है। कर्ता-कर्म-क्रिया - ये तीनों भी यथार्थ में जुड़े-जुड़े नहीं हैं, किन्तु तीनों एक द्रव्यरूप ही हैं।”

मूल कलश इसप्रकार है -

यः परिणमति स कर्ता,

यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।

यः परिणति क्रिया सा,

अयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥५१॥

द्रव्यदृष्टि से परिणाम और परिणामी का अभेद है और पर्याय दृष्टि से भेद है। भेददृष्टि से तो कर्ता, कर्म और क्रिया - यह तीन कहे गये हैं;

किन्तु इस कलश में तो अभेददृष्टि से परमार्थतः यह कहा गया है कि

कर्ता-कर्म-क्रिया - तीनों एक द्रव्य की ही अभिन्न अवस्थायें हैं,  
<sup>१. प्रबचनसाह, गाथा ६७</sup>  
<sup>२. समससार, गाथा ३७२</sup>  
 प्रदेशभेदरूप भिन्न वस्तुएँ नहीं।  
<sup>३. पचाध्यायी, गाथा ३५१, ३५३</sup>

तात्पर्य यह है कि जब कर्ता-कर्म एवं क्रिया एक ही द्रव्य में होते हैं तो कोई किसी अन्य द्रव्य का कर्ता कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता।

अतः हटाओ पर के कर्तृत्व की मान्यता को और केन्द्रित करो उपयोग को स्वभाव के सन्मुख।

## निमित्तों को कारण कहने का औचित्य

**प्रश्न ५७ :** यदि निमित्त कार्य के सम्पादन में कुछ करते ही नहीं हैं तो फिर उन्हें कारण क्यों कहा ?

**उत्तर :** किस कार्य में कैसा निमित्त होता है - यह बताने के लिए निमित्तों को भी उपचार से कारण कहा जाता है। वास्तव में संयोगी निमित्त कार्य सम्पन्न होने में कुछ भी मदद, सहायता आदि नहीं करते।

**प्रश्न ५८ :** यदि अकेले उपादान से ही कार्य होता है, निमित्त कुछ नहीं करते तो फिर शास्त्रों में निमित्त की कारण के रूप में चर्चा ही क्यों की ?

**उत्तर :** उपादान में हुए विशेष कार्य के अनुकूल संयोग ( निमित्त ) कैसे होते हैं - यह ज्ञान कराने के लिए निमित्तों को वर्णन किया जाता है, कार्य में उनका कर्तृत्व जताने के लिए नहीं। जिसप्रकार मिट्टी में से घट काग्र हुआ तो तदनुकूल इच्छा व क्रियावाले कुम्हार का ही संयोग रूप निमित्त होगा, जुलाहा आदि का नहीं। ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध होता है। इसीप्रकार जीव जब सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें प्रगट करता है तो अपनी तत्समय की योग्यता से ही करता है, किन्तु उस समय निमित्त रूप में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु भी उपस्थित होते ही हैं।

**प्रश्न ५९ :** जीवों में परस्पर उपकार की भावना और उपकार के कार्य देखे जाते हैं। मित्र, माता-पिता, गुरुजन, देव-शास्त्र-गुरु, दयावान \*नोट : यहाँ द्रव्यार्थिक का विषय द्रव्य एवं पर्यायार्थिक का विषय पर्याय नहीं है। यहाँ तो जो एक ही द्रव्य के आश्रित है, उसे द्रव्यार्थिक कहा तथा जो भिन्न-भिन्न द्रव्यों के आश्रित हों, उसे पर्यायार्थिक कहा जाता है।



व्यक्ति निरन्तर अपने मित्रों की, पुत्र-पुत्रियों की, शिष्यों की, भक्तों और दीन-दुःखियों की भलाई करते तो देखे ही जाते हैं न ! उनका उपकार न मानना क्या कृतघ्नता नहीं है ? किए हुए उपकारों को सज्जन पुरुष कैसे भूल सकते हैं ?

यद्यपि यह सच है कि - मित्र-शत्रु आदि को उपकारी-अनुपकारी मानने से राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है ? परन्तु ऐसा न मानने से तो समस्त लोक व्यवहार ही बिगड़ता है और कृतज्ञता जैसी कोई वस्तु ही नहीं रहेगी। तब क्या होगा ?

नीतिकारों ने कहा भी है - “नहि कृतमुपकारं साधवो विस्मरंति” सज्जन पुरुष किये हुए उपकार को विस्मृत नहीं करते।

**उत्तर :** यह कोई समस्या नहीं है। यदि हमें निमित्त-उपादान का, वस्तु की कारण-कार्यव्यवस्था का तथा कर्ता-कर्म का सही स्वरूप समझ में जा जाये, इनकी यथार्थ प्रतीति हो जाए तो हम समताभाव को प्राप्त कर मानसिक शान्ति व निराकुल सुख तो प्राप्त करेंगे ही, साथ ही जबतक जगत में हैं, तबतक कृतज्ञता का भाव और जगत का व्यवहार भी भूमिकानुसार बहुत अच्छे रूप में निभेगा। ऐसा ही वस्तु की पर्यायगत योग्यता का स्वरूप है।

जब हम यह जानते हैं कि - दिवंगत आत्मा हमारे रुदन करने पर, दिन-रात शोक मनाने पर भी हमें उपलब्ध होनेवाला नहीं है, अतः रोने-धोने से लाभ तो कुछ भी नहीं है और हानियाँ असीमित हैं - ऐसा जानते हुए भी ज्ञानी से ज्ञानी गृहस्थ भी अपने प्रिय परिजनों के चिर-वियोग में रोये बिना नहीं रह सकते? क्षायिक समकिति राम को ही देखो न ! लक्ष्मण के चिर-वियोग में कैसा विलाप करते थे ? छह माह तक तो मुर्दा शरीर को कंधे पर रखे-रखे फिरते रहे।

यह जानते हुए भी इष्ट वियोगज आर्तध्यान पाप का कारण है, एक

रागी गृहस्थ की भूमिका में जितना राग होगा, उतना दुःख हुए बिना नहीं रहेगा। दुःख तो होगा ही, रोये बिना भी नहीं रहा जा सकेगा। ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध होता है।

सिद्धान्तों की सच्ची श्रद्धा और तत्त्वज्ञान के बावजूद भी जितने अंश में चारित्रगुण में कमजोरी है, उतने विकल्प हुए बिना नहीं रहते। ऐसी ही पर्यायगत योग्यता होती है - इस बात को कभी भूलना नहीं चाहिए।

**प्रश्न ६० :** “हमें तो पाँचों द्रव्य इन्द्रियों से शास्त्र आदि का ज्ञान एवं इनके विषयों से स्पर्श आदि का सुख होता प्रतीत होता है और आप कहते हैं कि ज्ञान व सुख प्राप्ति में इनका कुछ भी योगदान नहीं है, यह कैसे ?

**उत्तर :** जिसप्रकार अग्नि चन्दन में गंध उत्पन्न नहीं करती, वह तो गंध की मात्र व्यजंक है, कर्ता नहीं; उसीप्रकार पाँचों इन्द्रियाँ और इनके विषय ज्ञान व सुख को उत्पन्न नहीं करते, मात्र ज्ञान व सुख की अभिव्यक्ति में निमित्त होते हैं, इनके कर्ता नहीं होते।

“जहाँ आत्मा स्वयं सुखरूप परिणमित होता है, वहाँ पंचेन्द्रियों के विषय क्या कर सकते हैं ? कुछ भी नहीं।”

“अन्य द्रव्य से अन्य द्रव्य के गुण की उत्पत्ति नहीं की जा सकती; इसलिए सर्वद्रव्य अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं।”

“मति-श्रुत ज्ञान के समय में भी जीव ही स्पर्शादि विषयों को विषय करके स्वयं ही उस ज्ञान व सुखमय हो जाता है, इसलिए आत्मा के उस इन्द्रियज्ञान एवं इन्द्रियसुख में भी अचेतन जड़ पदार्थ क्या कर सकते हैं ?”

इन सब आगम कथनों से भी सिद्ध होता है कि आत्मा को इन्द्रियज्ञान तथा विषयसुख होने में भी इन्द्रियाँ और इन्द्रियों के विषय अनुत्पादक हैं।

इनका ज्ञान व सुख की उत्पत्ति में कुछ भी योगदान नहीं है।

### द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक निमित्त-उपादान

**प्रश्न ६१ :** द्रव्यार्थिक निमित्त-उपादान एवं पर्यायार्थिक निमित्त-उपादान क्या है ?

**उत्तर :** कविवर बनारसीदास के अनुसार निमित्तोपादान के दो भेद हैं -

१. द्रव्यार्थिक निमित्त-उपादान - गुणभेद कल्पना
२. पर्यायार्थिक निमित्त-उपादान - परयोग कल्पना

एक ही द्रव्य में गुणभेद करके उसमें उपादान निमित्त लागू करना द्रव्यार्थिक निमित्त-उपादान है। इसमें उपादान व निमित्त - दोनों अपने आप में ही हैं। तथा भिन्न-भिन्न द्रव्यों के उपादान-निमित्त लागू करना पर्यायार्थिक निमित्त-उपादान है। इसमें उपादान 'स्व' है व निमित्त 'पर' होता है।\*

**प्रश्न ६२ :** एक ही अभेद द्रव्य में गुणभेद कल्पना कैसे संभव है ?

**उत्तर :** वस्तुपने आत्मा में अनन्तगुण अभेद रूप होने पर भी उनमें भेद कल्पना से ज्ञान और चारित्र में उपादान-निमित्त घटाये जाते हैं - इन

१. निमित्तोपादान प्रवचन : पू. गुरुदेव श्री कानजी स्वामी

दोनों गुणों की गति-न्यारी अर्थात् परिणमन भिन्न-भिन्न प्रकार का है, दोनों की शक्ति न्यारी अर्थात् दोनों के कार्य भिन्न-भिन्न हैं, दोनों की जाति न्यारी अर्थात् दोनों सम्यक्त्व व मिथ्या रूप से - दो प्रकार दो प्रकार के होते हैं और दोनों की सत्ता न्यारी है। द्रव्य अपेक्षा सत्ता एक है; किन्तु गुण अपेक्षा से ये भिन्न-भिन्न हैं।

इसप्रकार गति, जाति, शक्ति और सत्ता की अपेक्षा ज्ञान व चारित्र की भिन्नता बताकर उसमें निमित्त-उपादान का व्यवहार घटित किया है, दोनों की स्वतंत्रता स्वीकार किए बिना उपादान-निमित्त का सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता। यद्यपि दोनों गुणों में प्रदेश भेद नहीं है, तथापि गुणभेद है।

**प्रश्न ६३ :** उपादान व निमित्त - दोनों को एक ही द्रव्य के आश्रित होना किसप्रकार संभव है ? उपादान व निमित्त तो दो पृथक्-पृथक् द्रव्यों में घटित होते हैं ?

**उत्तर :** ज्ञान और चारित्र आदि गुणों की गति, शक्ति, जाति या सत्ता न्यारी-न्यारी बताकर एक द्रव्य में भी निमित्त-उपादान घटित हो जाते हैं। जिसप्रकार जगत में अनन्त जीव हैं, उसीप्रकार प्रत्येक जीव में अनन्त गुण हैं। वे सर्वगुण भी द्रव्यों की भाँति असहाय ही हैं। अनेक भिन्न-भिन्न द्रव्यों की भाँति ही एकद्रव्य के अनेक गुणों में भी ऐसी स्वाधीनता है कि वे परस्पर एक-दूसरे की सहायता नहीं करते। एक क्षेत्रावगाही अनेक गुण दूसरे गुणों की सहायता बिना ही सदाकाल स्वाधीनपने परिणमन कर रहे हैं - ऐसी प्रत्येक गुण की सहज शक्ति है।

वस्तुपने जीव के अनन्त गुण अभेद होने पर भी उनमें से वहाँ गुणभेद कल्पना से ज्ञान व चारित्र गुण में निमित्त-उपादान घटित करके विस्तार से बताते हैं।

**गति :** ज्ञान की गति अर्थात् ज्ञान का परिणमन, ज्ञानरूप भी होता है

और अज्ञानरूप भी। चारित्र गुण की तो गति अर्थात् चारित्र गुण का परिणमन संक्लेश रूप भी होता है व विशुद्ध रूप भी होता है।

**शक्ति** : ज्ञान की शक्ति स्व-परप्रकाशक है तथा चरित्र की शक्ति स्थिरता व अस्थिरता रूप परिणमन करना है।

**जाति** : ज्ञान की दो जातियाँ हैं - १. सम्यक् २. मिथ्या। सम्यग्दर्शन होते ही मिथ्याज्ञान जाति का नाश हो जाता है। पर, ज्ञान जाति का नाश नहीं होता अर्थात् ज्ञान जाति पलट कर कभी जड़ नहीं होती। चारित्र गुण के परिणमन में तीव्ररूप व मन्दरूप दो जातियाँ हैं। यहाँ तीव्रता व मन्दता दोषों को समझना, शुद्धता की अपेक्षा नहीं क्योंकि पाँचवे गुणस्थान तक तीव्रता का अर्थ अकेली तीव्रता ही मत समझना, मंदता भी वहाँ होती है। हाँ, पाँचवें गुणस्थान के ऊपर तीव्रता नहीं होती।

**सत्ता** : ज्ञान व चारित्र की सत्ता आत्मद्रव्य प्रमाण है। एक ही द्रव्य के ये दोनों गुण हैं, इसलिए दोनों की सत्ता द्रव्य प्रमाण हैं, परन्तु गुण की अपेक्षा दोनों की सत्ता भिन्न-भिन्न है। दोनों के प्रदेश भिन्न नहीं हैं; पर भाव अपेक्षा से भिन्नता है।

इसप्रकार ज्ञान व चारित्र के गुणभेद जानना।

सारांश यह है कि - **ज्ञानगुण की गति** - ज्ञान व अज्ञानरूप, **शक्ति** - स्व-परप्रकाशक, **जाति** - सम्यक्-मिथ्या, **सत्ता** - द्रव्य प्रमाण।

इसीप्रकार **चारित्रगुण की गति** - संक्लेश व विशुद्धरूप, **जाति** - तीव्र व मन्दरूप, **शक्ति** - स्थिरता व अस्थिरता रूप, **सत्ता** - द्रव्य प्रमाण है।

ज्ञान व चारित्र की स्वतंत्र सत्ता सिद्ध होने से इन्हीं की भाँति अन्य सर्वगुण भी असहाय अर्थात् स्वसहाय सिद्ध हो जाते हैं।

इस सम्पूर्ण कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि - जब एक-द्रव्य में त्रिकाल एकसाथ रहनेवाली गुण भी एक-दूसरे की सहायता रहित स्वाधीन हैं

तो फिर त्रिकाल भिन्न रहनेवाले पदार्थ एक-दूसरे की सहायता करें - यह बात ही कहाँ रही ? एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ योगदान या सहयोग करें - ऐसी तो वस्तु के स्वरूप में योग्यता ही नहीं है। वस्तु स्वाधीनता से परिणमन करती है, यही वस्तुस्वरूप की व्यवस्था है। जिसने इस वस्तुस्वरूप का निर्णय कर लिया, उसी की मति व्यवस्थित है।

प्रवचनसार में आचार्य कहते हैं कि - सभी तीर्थंकर भगवन्तों के अनुभूत और प्रदर्शित मोक्षमार्ग के दृढ़ निर्णय से एवं स्वयं तद्रूप परिणमन करने से मेरी मति व्यवस्थित हो गई है।

यहाँ एक ही द्रव्य के आश्रित उपादान-निमित्त समझाने के लिए एक ही आत्मद्रव्य के ज्ञान व चारित्र दो गुण दृष्टान्त रूप में लिये गये हैं। इसीतरह और भी समझ लेना चाहिए।<sup>१</sup>

**प्रश्न ६४** : उपर्युक्त विवेचन में ज्ञान व चारित्र को असहाय अर्थात् स्व-सहाय कहा, किन्तु सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यक्चारित्र तो कभी होता ही नहीं है - ऐसी स्थिति में चारित्रगुण ज्ञानगुण के आधीन हुआ या नहीं ?

**उत्तर** : सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यक्चारित्र नहीं होता - यह बात शत-प्रतिशत सही है; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि चारित्र का परिणमन ज्ञान के आधीन हो गया। जिसप्रकार चतुर्दशी के बाद पूर्णिमा आती है। इससे पूर्णिमा चतुर्दशी के आधीन नहीं हो जाती। उसीप्रकार सम्यक्चारित्र की पर्याय सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के बाद आती है। इससे वह सम्यक्चारित्र की पर्याय सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के आधीन नहीं हो जाती। दोनों गुणों के परिणमन बिल्कुल स्वतंत्र हैं। अरे ! किसी जीव को सम्यग्दर्शन-ज्ञान के पश्चात् तुरंत ही चारित्र की पर्याय विकसित हो जाती है और किसी-किसी को सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के बाद सम्यक्चारित्र का परिणमन स्वाधीन है।

रविवार के बाद सोमवार आता है, यह सच है; पर इसका अर्थ यह तो नहीं कि सोमवार रविवार के आधीन है। यह सात वारों का क्रम बताने की बात है। इसीप्रकार सम्यग्दर्शन के बाद ही सम्यक्ज्ञान व चारित्र होते हैं। यह ज्ञान करने की बात है। वस्तुस्वरूप में ऐसा ही क्रम है, इससे वे एक-दूसरे के आधीन नहीं होते। फिर भी क्रम भ्रग भी नहीं होता। यदि कोई सम्यग्दर्शन के बिना ही सम्यक्चारित्र प्रगट करने का असफल प्रयास करे तो ऐसा माना जायेगा कि उसे गुणों के परिणामन क्रम का एवं उनके स्वाधीन परिणामन का बोध नहीं है।

द्रव्यार्थिक उपादान-निमित्त की अपेक्षा एक वस्तु के अनंत गुणों में से जिस गुण की मुख्यता से कथन करना हो, उसे उपादान और अन्य को निमित्त कहते हैं। जैसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का विचार करें तो यद्यपि इन दोनों की उत्पत्ति समकाल में ही है, तथापि उसमें सम्यग्दर्शन को मुख्य करके उसे कारण कहा और सम्यग्ज्ञान को कार्य कहा। वैसे ही वस्तु में अनंतगुण एकसाथ कार्य कर रहे हैं; परन्तु उनमें भी जब जिस गुण की मुख्यता से कथन करेंगे तो वह उपादान और अन्य गुण को निमित्त कहा जायेगा। आगम में एक द्रव्य के अन्दर गुणभेद से ऐसे कथन करने की शैली है।

जिसप्रकार बाह्य संयोग रूप निमित्त परवस्तु है, उसीप्रकार अन्दर के गुणों में परस्पर निमित्तपना है; किन्तु वह परवस्तु के समान संयोगरूप नहीं है। एक ही वस्तु में गुणभेद कल्पना से मुख्य-गौण करके निमित्त-उपादानपना घटित करते हैं। मुख्य को उपादान व गौण को निमित्त समझना चाहिए।

**प्रश्न ६५ :** एक ही आत्मा में रहनेवाले अनंत गुणों की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध करने/कराने जैसी सूक्ष्म चर्चा से धर्म संबंधी क्या लाभ ? समझने में कठिन भी बहुत है। अतः इस चक्कर में न पड़े तो ?

**उत्तर :** अरे भाई ! यह स्वतन्त्रता का शंखनाद है यही जैनदर्शन का मूल

मन्त्र है। जिज्ञासुओं के लिए न तो सूक्ष्म है, न कठिन ही है। बस, थोड़ा-सा उपयोग एकाग्र करके सुने तो एकदम सामान्य सी बातें हैं। यदि भव में भटकने से बचना है और मुक्ति कन्या को प्राप्त करना है तो इस तत्त्वज्ञान के चक्कर में तो पड़ना ही होगा।

एक जन्म की आजीविका के लिए हम इससे भी बहुत कठिन विषयों में पड़ते हैं; उन सबकी तुलना में यह बहुत ही सरल है और अनन्त भवों के अनंत दुःखों को दूर करने का सफलतम साधन है। अतः इसकी उपेक्षा करना उचित नहीं है।

हाँ तो सुनो ! अनन्तानन्त पुद्गल द्रव्य, एक-एक धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य एवं असंख्यात कालद्रव्य - ये सभी तो स्वाधीन हैं ही; एक आत्मद्रव्य में रहनेवाले अनन्तगुण-पर्यायें भी पूर्ण स्वाधीन हैं। आत्मा के अनन्त गुण एक-दूसरे के आधीन नहीं है।

यद्यपि स्व-संवेदन के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता; क्योंकि जाने हुए का ही श्रद्धान होता है; तथापि इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि - श्रद्धा गुण ज्ञानगुण के आधीन है। वस्तुतः श्रद्धागुण का काम ज्ञानगुण नहीं करता, ज्ञानगुण तो मात्र जानने का ही काम करता है और श्रद्धागुण भी मात्र श्रद्धान करने का काम करता है। दोनों ही स्वतंत्ररूप से अपना-अपना काम करते हैं। कोई भी गुण किसी अन्य के आधीन नहीं है। भले ही दोनों गुणों का निर्मल कार्य एकसाथ एक ही समय में होता हुआ दिखाई देता है, तथापि कोई किसी के आधीन नहीं है। देखो न ! क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति में केवली या श्रुतकेवली की सहायता तो है ही नहीं; अन्तरंग में विद्यमान ज्ञान की भी सहायता नहीं; चारित्रगुण की भी सहायता नहीं ! अन्यथा एक ओर महामुनिराज को निर्मल चारित्रदशा होने पर भी क्षायिक सम्यक्त्व क्यों नहीं होता ?

इस बात से स्पष्ट है कि प्रत्येक गुण का स्वतंत्र परिणामन निज-निज

उपादान के अनुसार होता है। एक गुण दूसरे की अपेक्षा या आधीनता नहीं होती।

यद्यपि ऐसा देखने में आता है कि जितना ज्ञान, उतना सुख; पूर्णकेवलज्ञान तो पूर्णसुख-अनन्तसुख; तथापि दोनों पर्यायें स्वतंत्र। ज्ञानरूप परिणमन ज्ञान गुण का और सुखरूप परिणमन सुखगुण का। ज्ञानगुण सुखरूप नहीं परिणमता और सुखगुण ज्ञानगुण रूप नहीं परिणमता। इसप्रकार की स्वतंत्रता प्रत्येक आत्मा में है। उसी स्वतंत्रता का शंखनाद यहाँ - एक ही द्रव्य के गुणों में निमित्त-उपादान घटा कर किया है।

ऐसी स्वतंत्रता समझे बिना परिणति स्व-सन्मुख नहीं होती तथा परिणति स्व-सन्मुख हुए बिना जीवन में सुख-शान्ति नहीं होती। जहाँ ऐसी स्वतंत्रता है, वही सच्चा सुख है।

जब अपने अन्दर विद्यमान एक गुण दूसरे गुण का सहायक नहीं होता, तो फिर जो अपने में नहीं है; ऐसे अपने से सर्वथा पृथक् अन्य बाह्य पदार्थ तो अपने सहायक होंगे ही कैसे ? ऐसी श्रद्धा से ही पूर्ण स्वाधीन धर्म प्रगट होता है और जीव को सच्चा सुख प्राप्त होता है।

**प्रश्न ६६:** जब जाने हुए का ही श्रद्धान होता है, अनजाने के श्रद्धान को तो शशक श्रृंगवत् असत् कहा जाता है। ऐसी स्थिति में क्या श्रद्धानगुण का परिणमन ज्ञान गुण के आधीन नहीं हुआ ?

**उत्तर :** यद्यपि आत्मा के स्वसंवेदन बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता; यह बात शत-प्रतिशत सत्य है; तथापि श्रद्धानगुण ज्ञानगुण के आधीन नहीं, ज्ञानगुण का मुहताज नहीं है; क्योंकि ज्ञान ने जिससमय अपना जानने का कार्य किया है; उसी समय श्रद्धान ने अपना श्रद्धान करने का काम किया है।

एक ने दूसरे का कुछ भी सहयोग नहीं किया। जब किसी ने किसी पर कोई अनुग्रह किया ही नहीं; एक ही समय में दोनों गुणों ने स्वतंत्रपने

अपना-अपना परिणमन किया है; जोकि प्रतिसमय अपनी-अपनी तत्समय की योग्यता से होता ही रहता है। यही वस्तु का धर्म है, स्वभाव है।

भले ही दो गुणों का परिणमन एकसाथ एकसमय में हो, पर कोई किसी के आधीन नहीं है। भिन्न-भिन्न द्रव्यों की भाँति ही एक द्रव्य के भिन्न-भिन्न गुणों का परिणमन भी पूर्ण स्वाधीन है, स्वतन्त्र है।

**प्रश्न ६७ :** जब क्षायिक सम्यक्त्व केवली-श्रुतकेवली की समीपता के बिना होता ही नहीं है तो फिर स्व-सहाय या असहाय किसप्रकार रहा ?

**उत्तर :** केवली-श्रुतकेवली के समीप तो बहुत से सम्यक्त्वी जीव होते हैं; पर उन सबको क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता; क्योंकि उनके श्रद्धानगुण में वैसी तत्समय की योग्यता का अभाव है। यदि केवली या श्रुत केवली के कारण क्षायिक सम्यग्दर्शन होता तो सबको एक जैसा क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होना चाहिए; पर ऐसा नहीं होता।

दूसरी बात यह है कि - तीर्थकर आदि को केवली-श्रुतकेवली की समीपता के बिना भी क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

जहाँ केवली-श्रुतकेवली की समीपता का नियम कहा। उसकी अपेक्षा तो यह है कि - जहाँ केवलज्ञान व श्रुतकेवलज्ञान की उत्पत्ति की योग्यता नहीं, वहाँ क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति की भी योग्यता नहीं होती।

भरतक्षेत्र में जबसे केवलज्ञान एवं श्रुतकेवलज्ञान का विच्छेद हुआ, तभी से क्षायिक सम्यक्त्व का भी विच्छेद हो गया।

मनुष्य के सिवाय देवों को केवली की समीपता मिलने पर भी क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता; क्योंकि उनकी उपादानगत तत्समय की योग्यता ही वैसी नहीं है।

**प्रश्न ६८ :** कहा जाता है कि जीव अपने भाव कलंक की प्रचुरता से ही निगोदवास नहीं छोड़ पाता। तो फिर नित्य निगोदिया जीव निगोद से निकलकर मोक्षमार्ग साधने की अवस्था तक किसप्रकार आता है ?

**उत्तर :** इस प्रश्न के दो उत्तर हो सकते हैं। १. कर्मों के मन्दोदय रूप निमित्त सापेक्ष और २. उपादान की तत्समय का योग्यता सापेक्ष।

**पहला उत्तर :** कर्म का बल मंद पड़ने पर जीव निगोद से निकलकर मोक्षमार्ग में आता है।

**दूसरा उत्तर :** चारित्रगुण की अपनी उपादान शक्ति से मन्दकषायरूप परिणमन करके जीव को नित्य-निगोद राशि से निकालकर मोक्षमार्ग में लाता है।

अब तक जीव निगोद में अपने भावकलंक की प्रचुरता के कारण ही रहा है और अपने चारित्रगुण की शुभगति के कारण ही निगोद से निकलकर ऊपर आया है। दोनों दशाओं में अपना उपादान ही स्वतंत्र रहा है। अनेकान्वयीति

(जैननीति) भी ऐसा कहती है कि तेरे द्रव्य-गुण-पर्याय की अस्ति में पर की अस्ति है, अतः निमित्त-कर्मरूप किंचितमात्र भी आत्मा के गुण-दोषों का

प्रश्न है! किंचित शोषक है स्वामी राग-दोषी परिजीम, प्रतिकूल मूल प्रेरक कहें तुम काम है।

पुण्ड्र करम, जोग, किधो इन्द्रिनिको भोग, किधो धन किधो परिजन किधो भोजन है?।

उत्तर : गुरु कहें छोटा देव अपने-अपने रूप, जब एक ही वस्तु के अनेक गुण जिनमें प्रदेष्ट भेद भी नहीं है; वे भी

परस्पर एक-दूसरे का कार्य नहीं करते; तो फिर भिन्न-भिन्न वस्तुयें, जिनमें प्रदेश भिन्नता है, अत्यन्ताभाव पैदा है; वे एक-दूसरे का कार्य करें या परस्पर

राग-दोष मोह मूषा मदिरा अचान है ॥६१॥  
समयसार नाटक, सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार  
ऐसी स्वाधीनता की बात यदि हमें रुच जाय एवं जंच जाय तो निश्चित

ही हमारा अनन्त दुःख मिट जायेगा और हमारा मनुष्य भव धन्य हो जायेगा, सार्थक हो जायेगा।

**प्रश्न ६९ :** आत्मा के कर्म के साथ कर्ता-कर्म संबंध न सही; किन्तु निमित्त-नैमित्तिक संबंध तो माना ही है न ! फिर 'पर में कुछ भी संबंध नहीं' - ऐसा क्यों कहा है ?

**उत्तर :** जिसकी स्वभाव सन्मुख दृष्टि नहीं हुई - ऐसे निमित्ताधीन दृष्टिवाले मिथ्यादृष्टि जीवों का कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध बना रहता है और वही अज्ञानी निमित्त-नैमित्तिक सहज संबंध की आड़ में उसे कर्ता-कर्म के रूप में मानता रहता है। जबकि कर्ता-कर्म संबंध तो उनके साथ भी संभव नहीं है। उस भूल को निकालने के लिए ऐसा कहा जाता है कि पर से कुछ भी संबंध नहीं है।

जिसने अपने स्वभाव के साथ स्व-स्वामी संबंध स्थापित कर लिया है - ऐसे ज्ञानी पुरुषों को रागजनित निमित्त-नैमित्तिक संबंध भी शनैः-शनैः विच्छेद होने लगता है और पूर्ण वीतरागदशा प्रगट होने पर उस निमित्त-नैमित्तिक संबंधों का सम्पूर्ण विच्छेद हो जाता है।

प्रत्येक पदार्थ के भीतर इसप्रकार की शक्ति है, ऐसी योग्यता है, जिससे वह पदार्थ स्वयं प्रतिक्षण कार्यरूप परिणमित होता रहता है।

जब वस्तु अपनी सत्ता में स्वतन्त्र है, शक्तियों में स्वतन्त्र है तो फिर वह अपनी उन शक्तियों से कार्य लेने में परतंत्र कैसे हो सकती है ? वह अपने कार्य करने में भी पूर्ण स्वतन्त्र है।

यदि ऐसा नहीं होता और प्रत्येक कार्य के लिए परद्रव्यों की अर्थात् निमित्तों की अपेक्षा करना पड़ती, तब तो समस्त कार्यप्रणाली ही गड़बड़ा जाती; क्योंकि पर का परिणमन अपने हाथ में है ही कहाँ ?

वस्तुस्वरूप तो पूर्ण स्वतन्त्र और स्वाधीन है। उसमें ऐसी अव्यवस्था और पराधीनता नहीं है। सभी द्रव्यों की प्रत्येक पर्याय में उसके-निज के छहों

कारक एक साथ वर्तते हैं। आत्मा भी शुद्ध या अशुद्ध दशा में स्वयं छहों कारक रूप परिणामन करता है, दूसरे कारकों की अपेक्षा नहीं रखता।

परन्तु अज्ञानी निमित्त-नैमित्तिक संबंध की आड़ में किसी न किसी रूप में पर से संबंध जोड़े रहना चाहता है, यही उसकी मूल में भूल में है, जो उसे पर से सबप्रकार के संबंध विच्छेदन करने में कारण बनी रहती है। अतः एक बार तो निर्दयतापूर्वक सभी प्रकार के संबंधों से सर्वथा विच्छेद करने की बात को अन्तःकरण से स्वीकार करना ही होगा।

**प्रश्न ७० : 'सत्संगति कथय किन्नकरोतिपुसां'** अर्थात् सत्संगति से क्या-क्या लाभ नहीं होते, सत्संगति से सभी तरह के लाभ होते देखे जाते हैं।'

काव्य साहित्य में संगति के गुण-दोषों को एक नहीं, ऐसी अनेक लोकोक्तियाँ प्रचलित हैं। जैसे कि -

**संगति ही गुण ऊपजै, संगति ही गुण जाय।**

**वांस-वांस अस मीसरी, एक ही भाव विकाय।।**

**संगति कीजै साधु की, हरै और की व्याधि।**

**खोटी संगति क्रूर की आठो पहर उपाधि।।**

सत्संगति से जहाँ पुरुष गुणवान होते देखे जाते हैं, वही कुसंगति से अनेक दोष भी मानव में घर कर लेते हैं।

इसप्रकार साहित्य जगत में सर्वत्र संगति के गुण-दोष दर्शाये गये हैं।

**जबकि यहाँ ऐसा कहा जाता है कि एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कुछ भी नहीं करता।**

इनका परस्पर में कुछ भी संबंध नहीं है। सभी द्रव्य, गुण एवं पर्यायों पूर्ण स्वतंत्र और स्वावलम्बी है। क्या ये कथन एक-दूसरे के विरुद्ध नहीं है?

जब एक द्रव्य का कर्ता दूसरा ( अन्य ) द्रव्य है ही नहीं तो संगति

कैसे हो सकती है?

**उत्तर :** जहाँ संगति के प्रभाव को दर्शाने वाले कथन उपलब्ध हैं वही उसी लोक साहित्य में संगति से सम्पूर्णतः अप्रभावित रहनेवाले कथन भी मिल जाते हैं - जैसे कि -

**जो रहीम उत्तम प्रकृति, का कर सकत कुसंग।**

**चन्दन विष व्यापे नहीं, लिपटे रहत भुजंग।।**

जन सामान्य को लिए उपदेश की शैली में कहा गया है कि पूर्वोक्त कथन भी ठीक है, परन्तु वास्तविकता का आधार तो सैद्धान्तिक कथन ही होता है।

मोक्षमार्ग में भी व्यावहारिक दृष्टि से अनुकूल वातावरण की ही अपेक्षा सब रखते हैं और प्रतिकूल वातावरण से बचना चाहते हैं। अतः उपदेश भी ऐसा दिया जाता है। परन्तु जब प्रतिकूल परिस्थिति का त्याग संभव ही न हो तो द्वितीय सैद्धान्तिक ( वास्तविक ) उपदेश का सहारा लेकर जीवन में शान्ति रखी जा सकती है।

उत्तम प्रकृति वाले तत्त्वज्ञानियों को अपना आदर्श मानकर स्वयं उत्तम प्रकृति धारण करने का पुरुषार्थ करना ही एकमात्र सच्ची सुख-शान्ति का उपाय है।

हम जो संगति चुनते हैं, वह तो मात्र हमारी रुचि का द्योतक है। यदि संगति चुननेवाला व्यक्ति उत्तम प्रकृति है तो उस पर कुसंगति का प्रभाव ही नहीं होगा और यदि पुरुषार्थहीन है, अज्ञानी है तो उसकी वैसी ही तत्समय की योग्यता से प्रभावित होता है, जो वह अपनी योग्यता से ही अज्ञानी पर्यायाश्रित हैं, उसके ऊपर ही निमित्त-नैमित्तिक भाव से परद्रव्य का प्रभाव दिखाई देता है।

परन्तु ध्यान रहे, मूल सिद्धान्त के ब्याज से ( छल से ) यदि हम सत्संगति का आश्रय न लेकर कुसंगति में ही पड़े रहें तो निश्चय ही हम अधम प्रकृति के

हैं और हमारा अहित ही होना है। उत्तम प्रकृति के व्यक्ति ऐसी भूल नहीं करते; क्योंकि उन्हें वस्तुतत्त्व व आत्मस्वभाव में आस्था है एवं उसी का आश्रय है। शुभाशुभ भाव तो जीव के होते ही नहीं हैं। जीव जब स्वतः व्यवहार से देव-शास्त्र-गुरु व निश्चय से आत्मा की शरण में आये तभी आत्मा का कल्याण होता है, अन्य प्रकार नहीं।

उपर्युक्त कथन व्यवहार वचन है, उनसे सिद्धान्त खण्डित नहीं होता; क्योंकि दो द्रव्यों का ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।

## प्रायोगिक प्रश्नोत्तर

प्रश्न ७१ : निम्नांकित कथनों में कार्य एवं कारण की खोज करें तथा

बतायें कि इनकी यथार्थ श्रद्धा व सही समझ से धर्म संबंधी क्या लाभ है ?

(क) मुझे अपने पुत्र, पुत्रवधू और पड़ोसियों पर बहुत क्रोध आता है; क्योंकि ये मेरी इच्छा के विरुद्ध आचरण करते हैं।

(ख) मैंने अपने पुत्र, पुत्रवधू और अपने बेटे-बेटियों को उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा दिया।

(ग) मुझे गर्व है कि मैंने अपने बुद्धिबल और वाक्चातुर्य से हत्या के अपराधी को फाँसी के फन्दे से बचा लिया।

(क) भाग का उत्तर

**कार्य - क्रोध का आना**

**ध्रुव उपादान कारण -** उस क्रोधी व्यक्ति का आत्मा या चारित्रगुण है, जिसमें क्रोध रूप कार्य उत्पन्न हुआ; क्योंकि क्रोधरूप कार्य की उत्पत्ति ध्रुव आत्मद्रव्य या चारित्रगुण में ही हुई, अन्यत्र नहीं हुई। यह ध्रुव उपादान कारण **स्वभाव का नियामक** है। परन्तु ध्रुव उपादान क्रोधरूप कार्य में (काल का) नियामक नहीं है; अन्यथा क्रोध कार्य शतत् होते रहने का प्रसंग प्राप्त होगा, जोकि संभव नहीं है। आत्मा के रहते भी क्रोध शतत् होता दिखाई नहीं देता।

**अनन्तर पूर्वक्षणवर्ती पर्याय का व्यय -** यह क्रोधरूप कार्य का क्षणिक उपादानकारण है; क्योंकि क्रोधरूप कार्य की उत्पत्ति इस विधि या पुरुषार्थपूर्वक ही होती है। यह अभावरूप कारण **विधि या पुरुषार्थ का नियामक** है; परन्तु इसे समर्थ कारण नहीं माना जा सकता; क्योंकि अभाव में से भाव की उत्पत्ति नहीं होती। यह मात्र **विधि या पुरुषार्थ का नियामक** है, जब भी कार्य होगा तो इसी विधि से अर्थात् इसी पुरुषार्थपूर्वक होगा।

**अनन्तर उत्तरक्षणवर्ती पर्याय का उत्पाद अथवा तत्समय की योग्यता -** यह क्रोधरूप कार्य का तृतीय क्षणिक उपादान कारण है।



वस्तुतः यह तत्समय की योग्यता ही क्रोध का समर्थ कारण है; क्योंकि यह स्वयं कार्यरूप परिणत होता है। यह **काल का नियामक** है। इसके होने पर कार्य नियम से होता ही है और नहीं होने पर नहीं होता।

समर्थ कारण कहते ही उसे हैं, जो काल का नियामक हो। तत्समय की योग्यता ( तृतीय उपादान ) **काल का नियामक** है। जिस काल में जो कार्य होना है, वह उसी काल में होता है। ध्यान रहे, द्वितीय व तृतीय क्षणिक उपादानों में कारण भेद एवं वस्तु भेद नहीं है। ये दोनों एक ही हैं अथवा यों कहें कि ये दोनों एक ही पर्याय के अंश या एक ही सिक्के के दो

पहुल हैं।

१. मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ३२५

**बाह्य निमित्त कारण** - निमित्त कारणों के आठ भेदों में क्रोध होने में या व्यक्ति के क्रोधित होने में **अज्ञानों की अनौचित्य** का प्रतिकूल आचरण बाह्य व प्रेरक निमित्त हैं; क्योंकि जब भी व्यक्ति को क्रोध आता तो जीव निगाद में अपने भावकलक की प्रचुरता के कारण ही रहा है। क्रोधित होने के काल में बाहर में इच्छवान व क्रियावान पुत्र और पड़ोसी और अपने चारित्रगुण की वही शुरुभंगति के कारण ही ऊपर आया है। दोनों का विरुद्ध आचरण ही वहाँ मौजूद रहता है। परन्तु ये क्रोध कार्य के दशाओं में अपना ही स्वतंत्र उपादान है। अपनी पर्याय के दोष को नहीं नियामक कारण नहीं हैं; क्योंकि इनके रहते उसे मुझसे क्रोध नहीं आता देखकर निमित्त के माथे दोष लगाने तो अज्ञानों की अनौचित्य है। इस प्रकार और निमित्त के अधीन किसी गुण को प्रेरक आता है और किसी को नहीं आता।

(**अस्तिदा-निमित्त कारण** अनेक कर्मकी कृति (जैवनी कृति) में तो के समवेत्त ही का उदय के अनेक निमित्त कारण हैं; अस्तिदा में समर्थ कारण हैं; है, क्योंकि कि उदय को किंचित्पुत्र भी रोगेण प्राप्त होता कर्मा के ही उदयों में क्रोधों में और क्रोध से उदयों का यही सिद्धान्त है। ऐसा कोई काल नहीं है कि जब कर्म जीव की कर्मबन्ध होने रहने से परस्पर प्रदीप प्राप्त होगा तथा कभी भी जीव क्रोध पर्याय को उत्पन्न करे। निमित्त तो एक तरफ खड़ा है, वह कभी किसी के रहित नहीं हो सकेगा।

कार्य में हस्तक्षेप नहीं करता। निमित्त तेरा शत्रु या मित्र नहीं है, तू ही विपरीत **कारणों की सही समझ से लाभ** - व्यक्ति के क्रोधित होने में पुत्र भाव से अपना शत्रु और सम्यक्भाव से अपना मित्र है। विपरीतभाव से अपनी आत्मा को संसार में निमग्न करनेवाला शत्रु भी तू और सम्यक्भाव से अपनी आत्मा का कल्याण करनेवाला मित्र भी तू ही है।

व पड़ोसी तो परद्रव्यरूप बाह्य निमित्त कारण हैं जो कि कार्य के सर्वथा अकर्ता हैं। अतः उन पर क्रोध करना व्यर्थ है।

जो निमित्तोपादान कारणों के स्वरूप से अनभिज्ञ अज्ञीजन परद्रव्य पर क्रोध करते हैं, उन्हें आचार्य अमृतचन्द्र के निम्नांकित कथन पर ध्यान देना चाहिए -

**रागजन्मनि निमित्ततां, पर द्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते।**

**उत्तरंति नहि मोह वाहनी, शुद्धबोध विधुरांधबुद्धयः॥<sup>१</sup>**

रागादि की उत्पत्ति में जो परद्रव्य को ही निमित्त कारण मानकर उन पर राग-द्वेष करते हैं, वे कार्य-कारण के यथार्थ ज्ञान से अनभिज्ञ हैं, वे कभी भी मोहनदी को पार नहीं कर सकेंगे।<sup>१</sup>

समयसार की गाथा ३७२ में भी कहा है -

अन्य द्रव्य या गुणों से अन्य द्रव्य या उसके गुणों की उत्पत्ति नहीं की जा सकती; इससे यह सिद्धान्त फलित हुआ कि सर्वद्रव्य अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं। कोई किसी के सुख-दुःख का, लाभ-हानि का, जीवन-मरण का कर्ता-धर्ता नहीं है।

इसी की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं - ऐसी शंका नहीं करना कि जीव को परद्रव्य रागादि उत्पन्न कराते हैं, क्योंकि अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्य के गुणों का उत्पाद कराने की अयोग्यता है। सर्वद्रव्यों का स्वभाव से ही उत्पाद होता है। परद्रव्य तो निमित्त मात्र है। इस संदर्भ में प्रवचनसार अध्याय २ की निम्नांकित गाथा भी द्रष्टव्य है -

**णांण देहो ण मणो ण चैव वाणी ण कारणं तेसिं।**

**कत्ता ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं॥६८॥**

मैं शरीररूप नहीं हूँ, मैं मन-वचन-काय के उपादान कारण पुद्गलपिण्ड रूप भी नहीं हूँ, मैं तीनों योगों का कर्ता भी नहीं हूँ अर्थात् योग मेरे कर्तृत्व के

१. प्रवचनसार गाथा १००

२. वही, गाथा १००

□

बिना ही पुद्गल पिण्ड से किये जाते हैं। तीनों योगों का प्रेरक होकर करानेवाला भी मैं नहीं हूँ, पुद्गलद्रव्य ही उनका कर्ता है; उन योगों के कराने वाले पुद्गल पिण्ड का अनुमोदक भी मैं नहीं हूँ, मेरी अनुमोदना के बिना ही पुद्गल उन योगों का कर्ता है, इसकारण मैं परद्रव्य से अत्यन्त भिन्न हूँ। मेरा इनसे कुछ भी संबंध नहीं है।

### (ख) भाग का उत्तर

**कार्य** – बेटों का उन्नति के शिखर पर पहुँचना।

**ध्रुव उपादान कारण** – बेटों का आत्मा; क्योंकि उन्नतिरूप कार्य बेटों के आत्मद्रव्य में ही हुआ है, बेटों का आत्मा मात्र **स्वभाव का नियामक** है; क्योंकि इसके रहते भी सदैव कार्य सम्पन्न होते नहीं देखा जाता। यदि इसे समर्थ कारण मान लिया जाये तो शतत कार्य होने का प्रसंग प्राप्त होगा; क्योंकि समर्थकारण की उपस्थिति में कार्य नियम से होना ही चाहिए।

**अनन्तर पूर्वक्षणवर्ती पर्याय का व्यय** – यह उन्नतिरूप कार्य का क्षणिक उपादान कारण नं. १ है; क्योंकि उन्नतिरूप कार्य की उत्पत्ति पूर्व पर्याय के व्ययपूर्वक ही होती है। यह कारण **विधि या पुरुषार्थ का नियामक** है। जब भी कार्य होगा, तब इसी विधिपूर्वक होगा; परन्तु यह भी अभाव स्वरूप होने से समर्थ कारण नहीं है; क्योंकि अभाव में से भाव की उत्पत्ति नहीं होती।

**अनन्त उत्तरक्षणवर्ती पर्याय का उत्पाद अथवा तत्समय की योग्यता** – यह 'उन्नति' रूप कार्य का समर्थ कारण है; क्योंकि यह काल का नियामक है।

ध्यान रहे, द्वितीय व तृतीय उपादान कारणों में काल भेद एवं वस्तुभेद नहीं है। ये दोनों एक ही हैं, पर्याय के अंश ही हैं अथवा एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

**बाह्य निमित्त** – निमित्त कारणों के आठ भेदों में उन्नति के शिखर पर पहुँचने रूप कार्य में बेटों का पिता बाह्य निमित्त कारण है। इच्छावान एवं प्रयासरत पिता बाह्य एवं प्रेरक निमित्त हैं; क्योंकि जब 'उन्नति' रूप कार्य सम्पन्न हुआ तब उस कार्य काल में बाह्य निमित्त के रूप में कार्य के अनुकूल इच्छावान पिता उपस्थित था।

**अन्तरंग निमित्त** – बेटे का पुण्योदय अन्तरंग निमित्त है; क्योंकि द्रव्यकर्म का उदय भी परद्रव्य है।

**लाभ** – उपर्युक्त प्रकार से कारणों की खोज करने पर पिता को गर्व करना मिथ्या अहंकार सिद्ध होता है और कार्य-कारण के स्वरूप की यथार्थ श्रद्धावाले को ऐसा गर्व नहीं होता। यही इसके यथार्थ ज्ञान का सुफल है।

### (ग) भाग का उत्तर

**कार्य** – फाँसी के फन्दे से बचा लेना।

**ध्रुव उपादान कारण** – अपराधी का वह आत्मा, जिसमें मृत्युदण्ड से बचने का कार्य सम्पन्न हुआ, **स्वभाव का नियामक** है; इसे समर्थ कारण नहीं कर सकते। अन्यथा उसके रहते कार्य सदा सम्पन्न होने का प्रसंग प्राप्त होगा।

**अनन्तर पूर्वक्षणवर्ती पर्याय का व्यय** – यह मृत्युदण्ड रूप कार्य का क्षणिक उपादान नं. १ विधि ( पुरुषार्थ) का नियामक है; क्योंकि उन्नतिरूप कार्य की उत्पत्ति इसी विधिपूर्वक होती है; परन्तु यह कार्य का अभावरूप कारण होने से समर्थ कारण नहीं है; क्योंकि अभाव में से भाव की उत्पत्ति नहीं होती।

**अनन्तर उत्तरक्षणवर्ती पर्याय का उत्पाद अथवा तत्समय की योग्यता** – यह फाँसी के फन्दे से बचने रूप कार्य का क्षणिक उपादान कारण नं. २ है; यही वस्तुतः कार्य का (काल का) समर्थ कारण है, जोकि

पूर्ण स्वाधीन है।

**बाह्य निमित्त** - वकील की वाक्चतुराई से अदालत में मुकदता चलता है, तो उसमें परद्रव्य निमित्त वकील एवं उसकी इच्छा शक्ति उस कार्य के अनुकूल होती है; पर वह परद्रव्य होने से कार्य के निष्पन्न होने में कुछ नहीं करता।

**अन्तरंग निमित्त** - उसी समय अपराधी का आयुर्कर्म का शेष होना मृत्युदण्ड से बचने में अन्तरंग निमित्त कारण है; परन्तु यह द्रव्यकर्म का उदय भी परद्रव्य है। अतः अकर्ता ही है।

**लाभ** - ज्ञान में ऐसा निर्णय एवं श्रद्धा होने से निमित्तों पर होनेवाले राग-द्वेष कम हो जाते हैं। फिर भी किसी को मोह-राग-द्वेष होते दिखाई दें तो समझना चाहिए कि - या तो उसकी श्रद्धा में भूल है या चारित्र मोह से होने वाली जीव की स्वयं की कमजोरी है वस्तुतः इसके यथार्थज्ञान व श्रद्धान का सुफल तो निराकुल सुख ही है।

## परिशिष्ट - १

( उपादान कारण के ही प्रकारान्तर भेद )

### अन्वयकारण :

सम्यग्दृष्टि को साधक दशा में चारित्रगुण के परिणमन में मिश्र ( शुद्ध व शुभ की मिली जुली ) दशा होती है, उसमें शुद्ध दशा उपादान कारण है और उसके साथ अविनाभाव रूप से रहनेवाला शुभभाव निमित्त होने से इसे अन्वयकारण कहा जाता है। उदाहरणार्थ - १. महाव्रत धारण किए बिना सकलचारित्र कभी नहीं होता, इसलिए उन महाव्रतों को अन्वयरूप कारण जानकर कारण में कार्य का उपचार करके शुभभाव को भी चारित्र कहा है।

२. अरहंतादिक का श्रद्धान होने से तो सम्यक्त्व हो अथवा न भी हो, परन्तु अरहंतादिक का श्रद्धान हुए बिना तत्त्वार्थश्रद्धारूप सम्यक्त्व कभी भी नहीं होता; इसलिए अरहंतादिक के श्रद्धान को अन्वयरूप कारण जानकर कारण में कार्य का उपचार करके अरहंतादि के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है।<sup>१</sup>

### उत्पादन कारण :

द्रव्यों की ध्रुवता तथा पूर्व पर्याय का व्यय उत्पादन कारण है। यदि ऐसा न माना जाये तो ध्रौव्य व व्यय से पृथक् मात्र उत्पाद संभव ही नहीं होगा अथवा असत् का उत्पाद होने का प्रसंग आयेगा। पूर्व पर्यायों के व्यय को असत् वर्तमान पर्याय का उत्पादन कारण कहना व्यवहार है, निश्चय से तो वर्तमान पर्याय स्वयं ही कारण व स्वयं ही कार्य है।

## संहार कारण :

उत्पाद और ध्रौव्य रहित अकेले व्यय को माननेवाला संहार कारण को नहीं मानता। इसलिए व्यय ( संहार ) का कारण उत्पाद व ध्रौव्य है।<sup>२</sup>

## साधकतम कारण :

तत्समय की योग्यतारूप क्षणिक उपादान को साधकतम कारण कहते हैं।

## परिशिष्ट - २

( कविवर बनारसीदासजी द्वारा रचित निमित्तोपादान दोहे )

यहाँ शिष्य के प्रश्न के रूप में कविवर बनारसीदास ने अज्ञानियों की मान्यता को निम्नांकित दो दोहों के माध्यम से प्रस्तुत किया है, जो इसप्रकार हैं -

**गुरु उपदेश निमित्त बिन उपादान बलहीन।**

**ज्यों नर दूजे पाँव बिना चलवेको आधीन ॥१॥**

**हो जाने था एक ही उपादान सों काज।**

**थकै सहाई पौन बिन पानी मांहि जहाज ॥२॥**

जिसप्रकार आदमी दूसरे पैर के बिना नहीं चल सकता, उसीप्रकार उपादान ( आत्मा स्वयं ) भी सद्गुरु के उपदेशरूप निमित्त के बिना तत्त्वज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ है। शिष्य पूछता है कि मैं तो ऐसा मानता था कि मात्र उपादान से ही काम होता है, परन्तु सच बात यह है कि जिसप्रकार पानी में पवन की सहायता के बिना जहाज थक जाता है, उसीप्रकार निमित्त की सहायता के बिना उपादान अकेला कार्य नहीं कर सकता। इसप्रकार कवि ने शिष्य के प्रश्न के रूप में अज्ञानियों की मान्यता बताई है जो ठीक नहीं है।

उत्तर में कवि कहते हैं कि -

**ज्ञान नैन किरिया चरण दौऊ शिवमग धार।**

**उपादान निश्चय जहाँ, तहाँ निमित्त व्यवहार ॥३॥**

## अपनी बात

मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत, आत्मानुभूति प्राप्त करने में साधकतम, कर्तृत्व की चिन्ता से निश्चिन्त करनेवाला, कर्त्ताबुद्धि के अहंकार से उत्पन्न कषाय चक्र को कमजोर करनेवाला, निराकुल एवं शाश्वत सुख प्राप्त होने का एकमात्र अमोघ उपाय यदि कोई है तो वह है 'विश्व की अनादिनिधन, पर से निरपेक्ष, स्वाधीन, स्वतन्त्र, स्वसंचालित कार्य-कारण व्यवस्था' का यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान एवं तदनु रूप आचरण।

जिनागम में इसकी चर्चा मुख्यतः निमित्तोपादान कारणों के रूप में हुई है। कहीं-कहीं यह विषय निमित्त-नैमित्तिक व उपादान-उपादेय सहज सम्बन्ध तथा वस्तु की कारण-कार्य व्यवस्था के रूप में भी चर्चित हुआ है।

जैनदर्शन की पृथक् पहचान करानेवाला एवं स्वतन्त्र अस्तित्व का परिचायक 'वस्तु स्वातन्त्र्य' का सिद्धान्त इस स्वतन्त्र कार्य-कारण व्यवस्था एवं सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का मूल आधार है; जो कि जीवों को स्वात्मन्व का पाठ पढ़ाता है।

परोक्ष रूप में तो इस मौलिक सिद्धान्त के बीज चारों अनुयोगों में विद्यमान हैं, किन्तु अध्यात्म व न्याय ग्रन्थों में इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण किया गया है। ज्ञातव्य है कि विगत सौ वर्षों से ये विषय जनसाधारण की पकड़ से परे हो गये थे। केवल विद्वानों के ज्ञानकोष तक ही सीमित रह गये थे।

सहज संयोग से पिछले साठ-पैंसठ वर्षों से आध्यात्मिक सत्पुरुष श्रीकानजी स्वामी के सत्प्रयासों से ये विषय पुनः पठन-पाठन में आये हैं, विशेष चर्चित हुए हैं। एतदर्थ उनका जितना भी उपकार माना जाय, कम ही होगा।

प्रस्तुत संसोधित/संवर्धित संस्करण में पुस्तक के प्रारम्भ में ही जैनदर्शन का प्राण 'वस्तु स्वातन्त्र्य की घोषणा' शीर्षक चार पृष्ठीय लेख जोड़ा है। इसके अतिरिक्त गुरुदेवश्री कानजीस्वामी द्वारा भैया भगवतीदास एवं कविवर बनारसीदास रचित निमित्तोपादान दोहों पर हुए प्रवचनों से भी महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तरों को सरल-सुबोध भाषा में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इसकारण इस पुस्तक की विषयवस्तु पूर्व संस्करण से लगभग डेढ़ गुनी हो गयी है। इससे पाठकों को निःसन्देह आशातीत लाभ होगा।

कक्षा में पढ़ाते-पढ़ाते विषय जैसा-जैसा परिमार्जित होता गया; तदनुसार कुछ विस्तृत सामग्री तैयार हो गई। उसे ही व्यवस्थित करके लिखने का यह लघु प्रयास है। आशा है पाठकों को यह पुस्तक भी उपयोगी सिद्ध होगी।

- रतनचन्द

भारिल